श्रमण

ŚRAMAṆA

अप्रैल - जून, १९९७

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI.
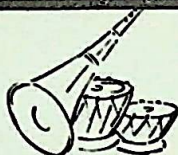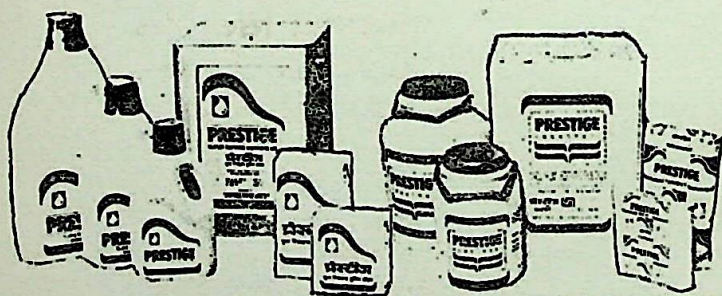
श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष-४८] अंक ४-६] [अप्रैल-जून, १९९७

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन, सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

प्रधान सम्पादक

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई०टी०आई०मार्ग, करौंदी

पो०ऑ०-बी०एच०यू०

वाराणसी - २२१००५

दूरभाष : ३१६५२१, ३१८०४६

फैक्स : ०५४२ - ३१६५२१

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० ६०.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० ५०.००
एक प्रति	:	रु० १५.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० १०००.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० ५००.००

श्रमण

हिन्दी खण्ड

प्रस्तुत अङ्क में

डॉ० सागरमल जैन के निम्न शोध-लेख संगृहीत हैं

जैनधर्म में सामाजिक चिन्तन

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का धर्म है। सामान्यतया इसे सामाजिक न मानकर व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है, किन्तु जैनधर्म को एकान्त रूप से व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि उसका विकास निवृत्तिमार्गी संन्यासप्रधान श्रमण-परम्परा में ही हुआ है किन्तु मात्र इस आधार पर उसे असामाजिक या व्यक्तिवादी धर्म मानना, एक भ्रांति ही होगी। जीवन में दुःख की यथार्थता और दुःखविमुक्ति का जीवनादर्श, यह सम्पूर्ण श्रमण-परम्परा का अथ और इति है। किन्तु दुःख और दुःखविमुक्ति के ये सम्प्रत्यय मात्र वैयक्तिक नहीं हैं, उनका एक सामाजिक पक्ष भी है। दुःखविमुक्ति का उनका आदर्श मात्र वैयक्तिक दुःखों की विमुक्ति नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्राणिजगत् के दुःखों की विमुक्ति है और यही उन्हें समाज से जोड़ देता है। श्रमणधारा में धर्म और नीति को अवियोज्य माना गया है और धर्म एवं नीति की यह अवियोज्यता भी उसमें सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर देती है।

भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को तीन युगों में बाँटा जा सकता है — (१) वैदिक युग, (२) औपनिषदिक युग, (३) जैन और बौद्ध युग। सर्वप्रथम जहाँ वैदिक युग में 'संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्'[१] अर्थात् तुम मिलकर चलो, तुम मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें — इस रूप में सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, तो वहीं औपनिषदिक युग में उस सामाजिक एकत्व की चेतना के लिये दार्शनिक आधार प्रस्तुत किये गये। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि कहता है कि जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकत्व की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता[२]। औपनिषदिक चिन्तन में सामाजिकता का आधार यही एकत्व की अनुभूति रही है। जब एकत्व की दृष्टि विकसित होती है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं क्योंकि 'पर' रहता ही नहीं, अतः किससे घृणा या विद्वेष किया जाये। घृणा, विद्वेष आदि परायेपन के भाव में ही सम्भव होते हैं, जब सभी स्व या आत्मीय हों तो घृणा या विद्वेष का अवसर ही कहाँ रह जाता है। इस प्रकार औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया गया है।

साथ ही सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर सामूहिक-सम्पदा का विचार प्रस्तुत किया गया है। ईशावास्योपनिषद् में सम्पूर्ण सम्पत्ति को ईश्वरीय सम्पदा मानकर उस पर से वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया गया और व्यक्ति को यह कहा गया कि वह जागतिक सम्पदा पर दूसरों के अधिकारों को मान्य करके ही उस सम्पत्ति का उपभोग करे। इस प्रकार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'[३] के रूप में उपभोग के सामाजिक अधिकार की चेतना को विकसित किया गया। इसी तथ्य की पुष्टि श्रीमद्भागवत में भी की गई है। उसमें अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानने वाले को स्पष्टतः चोर कहा गया।[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक और औपनिषदिक युग में सामाजिकता के लिये न केवल प्रेरणा दी गई अपितु एक दार्शनिक आधार भी प्रस्तुत किया गया है।

जैनधर्म में सामाजिक चेतना

जहाँ तक जैन और बौद्ध परम्पराओं का प्रश्न है उनमें सामाजिक चेतना का आधार एकत्व की अनुभूति न होकर समत्व की अनुभूति रही है। यद्यपि आचारांग में कहा गया है कि जिसे तू दुःख या पीड़ा देना चाहता है, वह तू ही है।[५] इसमें यह फलित होता है कि आचारांगसूत्र भी एकत्व की अनुभूति पर सामाजिक या अहिंसक चेतना को विकसित करता है, फिर भी जैन और बौद्ध परम्परा में सामाजिक चेतना एवं अहिंसा की अवधारणा के विकास का आधार सभी प्राणियों के प्रति समभाव या समता की भावना रही। उनमें दूसरों की जिजीविषा और सुख-दुःखानुभूति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आधार पर समझने का प्रयत्न किया गया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। यद्यपि जैन और बौद्धधर्म निवृत्तिप्रधान रहे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे समाज से विमुख थे। वस्तुतः भारत में यदि धर्म के क्षेत्र में संघीय साधना-पद्धति का विकास किसी परम्परा ने किया तो वह श्रमण-परम्परा ही थी। जैनधर्म के अनुसार तो तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में ही चतुर्विध संघ की स्थापना करता है। उसके धर्मचक्र का प्रवर्तन संघ-प्रवर्तन से ही प्रारम्भ होता है। यदि महावीर में लोकमंगल या लोककल्याण की भावना नहीं होती तो वे अपनी वैयक्तिक साधना की पूर्णता के पश्चात् धर्मचक्र का प्रवर्तन ही क्यों करते ? प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थङ्कर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों की रक्षा और करुणा के लिये है।[६] पाँचों महाव्रत सब प्रकार से लोकहित के लिये हैं।[७] हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की ही दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। जैन साधना-परम्परा में पंचव्रतों या पंचशीलों के रूप में जिस धर्म-मार्ग का उपदेश दिया गया, वह मात्र वैयक्तिक

साधना के लिये नहीं अपितु सामाजिक जीवन के लिये था। क्योंकि हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की शक्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना। इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ रह जाता है ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के जो जीवनमूल्य जैन-दर्शन ने प्रस्तुत किये वे पूर्णतः सामाजिक मूल्य हैं और उनका उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि है। लोक-मंगल और लोक-कल्याण यह श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से जैन-परम्परा का मूलभूत लक्ष्य रहा है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के धर्मसंघ को सर्वोच्च तीर्थ कहा है, वे लिखते हैं कि "सर्वापदाः अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव",[८] अर्थात् हे प्रभो ! आपका यह धर्मतीर्थ सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण करने वाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-परम्परा ने निवृत्तिमार्ग को प्रधानता देकर भी उसे संघीय साधना के रूप में लोक-कल्याण का आदर्श देकर सामाजिक बनाया हैं। जैन आगमों में कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म और गणधर्म के जो उल्लेख हैं, वे उसकी सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं।[९] पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार सुमधुर और समायोजनपूर्ण बन सकें और सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें किस प्रकार से दूर किया जा सके, यही जैनदर्शन की सामाजिक दृष्टि का मूलभूत आधार है। जैनदर्शन ने आचारशुद्धि पर बल देकर व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया है।

व्यक्ति और समाज : जैन दृष्टिकोण

सामाजिक दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण समन्वयवादी और उदार रहा है। आगे हम क्रमशः उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में जैन दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

समाजदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति और समाज में किसे प्रमुख माना जाय, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्तिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि व्यक्ति ही प्रमुख है, समाज व्यक्ति के लिये बनाया गया है। व्यक्ति साध्य है, समाज साधन है, अतः समाज को वैयक्तिक हितों पर आघात करने या उन्हें सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरी ओर, समाजवादी दार्शनिक समाज को ही सर्वस्व मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण ही प्रमुख है, समाज से पृथक् व्यक्ति

की सत्ता कुछ है ही नहीं। वह जो कुछ भी है समाज द्वारा निर्मित है। अतः सामाजिक कल्याण के लिये वैयक्तिक हितों का बलिदान किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों को जैनदर्शन अस्वीकार करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर अपना अस्तित्व ही खो देते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तिरहित सामान्य (समाज) और सामान्यरहित व्यक्ति दोनों ही अयथार्थ हैं।[१०] वे सामान्य (universal) और विशेष (individual) न्याय-वैशेषिकों के समान स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते हैं। मनुष्यत्व नामक सामान्य गुण से रहित कोई मनुष्य नहीं हो सकता और बिना मनुष्य (व्यक्ति) के मनुष्यत्व की कोई सत्ता नहीं होती। विशेष रूप से जब हम मनुष्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः सामाजिकता के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को अपने जैविक अस्तित्व से लेकर भाषा, सभ्यता, संस्कृति और जीवन-मूल्य आदि जो कुछ मिले हैं, वे समाज से मिले हैं। यदि मनुष्य से उसके सामाजिक अवदानों को पृथक् कर दिया जाय तो उसका कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा। दूसरी ओर, यह भी सही है कि बिना मनुष्य के मनुष्यत्व का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य से पृथक् मनुष्यत्व नहीं होता, ठीक यही बात समाज के सन्दर्भ में भी है। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। व्यक्तियों के अभाव में समाज सम्भव ही नहीं है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि व्यक्ति जो कुछ है वह समाज के कारण है। इस प्रकार जैनदर्शन में न तो निरपेक्ष रूप से व्यक्ति को महत्त्व दिया गया है और न ही समाज को। जैनधर्म की अनेकान्तिक दृष्टि का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति समाज-सापेक्ष है और समाज व्यक्ति-सापेक्ष। जो लोग व्यक्ति निरपेक्ष समाज अथवा समाज निरपेक्ष व्यक्ति की बात करते हैं वे दोनों ही यथार्थ से अपना मुख मोड़ लेते हैं। सामान्य रूप से तो सभी भारतीय दर्शन और विशेष रूप से जैन दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति और समाज में से किसी एक को ही सब कुछ मान लेना एक भ्रान्त धारणा है। यह ठीक है कि सामाजिक कल्याण के लिये व्यक्ति के हितों का बलिदान किया जा सकता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि सामूहिक हित भी वैयक्तिक हित से भिन्न नहीं है। सबके हित में व्यक्ति का हित तो निहित ही है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति अनुस्यूत है। जैन परम्परा में संघ हित को सर्वोपरिता दी गई है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक कथा है कि भद्रबाहु ने अपनी वैयक्तिक ध्यान-साधना के लिये संघ के कुछ साधुओं को पूर्व-साहित्य का अध्ययन करवाने की माँग को ठुकरा दिया। इस पर संघ ने उनसे पूछा कि वैयक्तिक साधना और संघहित में क्या प्रधान है ? यदि आप संघहित

की उपेक्षा करते हैं तो आपको संघ में रहने का अधिकार भी नहीं है। आपको बहिष्कृत किया जाता है। अन्त में भद्रबाहु को संघहित को प्राथमिकता देनी पड़ी।[११] यद्यपि समाज के हित के नाम पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को समाप्त नहीं किया जा सकता। जैन-परम्परा में कहा गया है कि आत्महित करना चाहिये और यदि शक्य हो तो लोकहित भी करना चाहिये और जहाँ आत्महित और लोकहित में नैतिक विरोध का प्रश्न हो वहाँ आत्महित को ही चुनना पड़ेगा।[१२] यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ आत्महित का तात्पर्य वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक मूल्यों का संरक्षण है। वस्तुतः वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले ने कहा था — मनुष्य मनुष्य नहीं है यदि वह सामाजिक नहीं है और यदि वह मात्र सामाजिक है तो पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है।[१३] किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि जैनदर्शन अपनी अनेकान्तिक दृष्टि के कारण मनुष्य को एक ही साथ वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही मानता है।

राग जोड़ता भी है और तोड़ता भी है

यह ठीक है कि जब मनुष्य में राग का तत्त्व विकसित होता है तो वह दूसरों से जुड़ता है। लेकिन स्मरण रखना चाहिये कि दूसरों से जुड़ने का अर्थ है कहीं से कटना। क्योंकि जो किसी से जुड़ता है तो कहीं से कटता अवश्य है। राग का तत्त्व व्यक्ति के स्व की सीमा का विस्तार तो अवश्य करता है किन्तु उसे दूसरों से अलग भी कर देता है। जब हम वैयक्तिक स्वार्थों से युक्त होते हैं तो हमारा स्व संकुचित होता है और जब हम सामाजिकता से जुड़ते हैं तो हमारे स्व का क्षेत्र विकसित होता है। किन्तु जब तक हम अपने और पराये के भाव का अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं तब तक हमारा 'स्व' या 'आत्मा' पूर्ण नहीं बन पाता है। जैनों के अनुसार हमारे जीवन में जो भी टूटन है, जो भी सीमाएँ हैं और जो भी मेरे-पराये के भाव हैं, ये सभी राग और द्वेष के तत्त्वों के कारण हैं। जब तक हम मेरा देश, मेरी जाति, मेरा धर्म आदि इन 'मैं' और 'मेरे' के घेरों से ऊपर नहीं उठते, दूसरे शब्दों में मेरे-तेरे के घेरों का अतिक्रमण जब तक नहीं कर जाते तब तक सही अर्थों में सामाजिक भी नहीं बन पाते हैं।[१४] मेरे और पराये की मनःस्थिति में हम अपने आपको किन्हीं शृंखलाओं में जकड़ा हुआ ही पाते हैं। जैनधर्म की साधना वीतरागता की साधना है, वह अनिवार्य रूप से स्व की संकुचित सीमा को तोड़ना है और अपने और पराये की इस संकुचित सीमा का अतिक्रमण करना असामाजिक होना नहीं है। जैनधर्म मुख्यतया इस बात पर बल देता है कि हम

एक स्वस्थ सामाजिकता का विकास करें और यह स्वस्थ सामाजिकता राग के आधार पर नहीं वरन् राग का अतिक्रमण करके ही की जा सकती है।

सामाजिकता का आधार : रागात्मकता या विवेक ?

सम्भवत: यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैनदर्शन राग को समाप्त करने की बात करता है किन्तु राग के अभाव में सामाजिक जीवन से जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? यदि अपनेपन और मेरेपन का भाव न हो तो सारे सामाजिक बन्धन चरमरा कर टूट जायेंगे। यह रागात्मकता ही है जो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है और समाज का निर्माण करती है। किन्तु क्या वस्तुत: रागात्मकता हमारे सामाजिक सम्बन्धों का यथार्थ कारण हो सकती है, जैसा कि पूर्व में कहा गया है — राग यदि हमें कहीं जोड़ता है तो वह हमें कहीं से तोड़ता भी है, मेरी विनम्र मान्यता है कि यदि हम राग के आधार पर समाज को खड़ा करेंगे तो वह एक स्वार्थी व्यक्तियों का समाज ही होगा। वस्तुत: समाज की संरचना राग के आधार पर नहीं विवेक के आधार पर ही सम्भव है। यदि मैं दूसरों का मंगल या हितसाधन इसलिये करता हूँ कि वे मेरे अपने हैं, और ऐसा करने से मेरे अपनेपन का घेरा कितना ही बड़ा क्यों न हो, मुझे एक स्वार्थी व्यक्ति से अधिक कुछ भी नहीं रहने देगा। हमें दूसरों का हित-साधन केवल इसलिये नहीं करना है कि वे हमारे अपने हैं अपितु इसलिये करना है कि दूसरों का हित-साधन करना मेरा स्वभाव है, स्वधर्म है, कर्त्तव्य है। जैन दार्शनिकों के अनुसार समाज जिस आधार पर खड़ा होता है वह राग नहीं विवेक का तत्त्व है, कर्त्तव्यता का बोध है। तत्त्वार्थसूत्र में यह माना गया है कि जीवद्रव्य का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है।[१५] व्यक्ति के जीवन की सार्थकता स्वहितों/स्वार्थों का बलिदान करके दूसरों का मंगल करने में ही है। पारस्परिक हित-साधन ही जीव का स्वभाव है और इसी से उसकी कर्तव्यता है। इसी के आधार पर हमारा मानव-समाज खड़ा हुआ है। रागात्मकता हमें किसी से जोड़ती है तो कहीं से तोड़ती भी है, क्योंकि राग सदैव द्वेष के साथ-साथ जीता है। राग और द्वेष ऐसे जुड़वाँ शिशु हैं जो एक-दूसरे के साथ जीते और मरते हैं। राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग नहीं जी पाता है। अत: राग के आधार पर जो समाज खड़ा होगा उसमें अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद होगा ही, किन्तु कर्तव्य-बोध के आधार पर जो समाज खड़ा होगा वह वर्णभेद और वर्गभेद से ऊपर होगा।

वस्तुत: मानवीय विवेक के आधार पर ही कर्तव्यबोध की जो चेतना जागृत होती है, वही हमारी सामाजिकता का आधार है। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा दायित्वबोध या कर्तव्य की भाषा है। जिस

समाज में केवल अधिकारों की बात होती है वहाँ केवल विकृत सामाजिकता ही फलित होती है। स्वस्थ सामाजिकता का आधार अधिकार नहीं कर्त्तव्यबोध है। जैनधर्म जिस सामाजिक चेतना की बात करता है वह मानवीय विवेक का अनिवार्य परिणाम है। विवेक से कर्त्तव्यता और सम-बुद्धि/समता जागृत होती है। जब विवेक हमारी सामाजिक चेतना का आधार बनता है, तब मेरे और तेरे की चेतना ही समाप्त हो जाती है। सम-बुद्धि से सभी आत्मवत् हैं, ऐसी दृष्टि विकसित होती है। यही आत्मवत् दृष्टि हमारी सामाजिकता का आधार है। जब तक आत्म-तुल्यता का बोध नहीं आता है, तब तक न तो हिंसा, घृणा आदि की असामाजिक वृत्तियों से ऊपर उठा जा सकता है और न हम सही अर्थ में सामाजिक ही बन पाते हैं। जैनदर्शन में सामाजिकता का आधार यही आत्मतुल्यता का बोध है।

सामाजिक जीवन का बाधक तत्त्व : अहंकार

सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति का अहंकार भी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। अहंकार के कारण शासन की इच्छा अथवा आधिपत्य की भावना जागृत होती है और सामाजिक जीवन में विषमता पैदा होती है। शासक-शासित का भेद अहंकार के कारण ही खड़ा होता है। वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि ही है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की प्रवृत्ति दृढ़ होती है तो वह दूसरों के अधिकारों का हनन करता है, परिणामतः दूसरों की स्वतन्त्रता खण्डित होती है। न केवल शासित और शासक का भेद अपितु जातिभेद और वर्गभेद के पीछे भी यही अहंकार का तत्त्व काम करता है। जब हम अपने कुल या जाति के अहंकार से युक्त होते हैं तो दूसरों को हीन समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम जाति-संघर्ष या वर्ग-संघर्ष होता है।

जातिवाद का विरोध और सामाजिक समता

जैनधर्म अहंकार के उपशमन के साथ-साथ जातिवाद और वर्णवाद का स्पष्टरूप से विरोध करता है। वह कहता है कि किसी जाति में जन्म लेने मात्र से नहीं, अपितु व्यक्ति का सदाचार और उसकी नैतिकता ही उसको श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रकार जैनधर्म जातिगत श्रेष्ठता के सम्प्रत्यय का विरोध करता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि कोई व्यक्ति इस आधार पर ब्राह्मण नहीं होता कि वह किसी ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अपितु वह ब्राह्मण इस आधार पर होता है कि उसका आचार और व्यवहार श्रेष्ठ है।[१६] जैनदर्शन जातिगत श्रेष्ठता के स्थान पर आचारगत श्रेष्ठता को ही महत्त्व देता है। आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि न तो कोई हीन है और न कोई श्रेष्ठ।[१७] आज हम देखते हैं कि जातिगत आधारों

पर अनेक सामाजिक संगठन बनते हैं लेकिन ऐसे सामाजिक संगठनों को जैनधर्म कोई मान्यता नहीं देता है। आज भी जैनसंघ में अनेक जातियों के लोग समान रूप से अपनी साधना करते हैं। मथुरा आदि के प्राचीन अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि अनेक जिन-मन्दिर और मूर्तियाँ गंधी, तेली, स्वर्णकार, लोहकार, मल्लाह, नर्तक और गणिकाओं द्वारा निर्मित हैं। वे सभी जातियाँ और वर्ग जो हिन्दू-धर्म में वर्णव्यवस्था की कठोर रूढ़िवादिता के कारण निम्न मानी गई थीं, जैनधर्म में समादृत थे।[१८] हरिकेशीबल (चाण्डाल), मातंग, अर्जुन (मालाकार) आदि अनेक निम्न जातियों में उत्पन्न हुए महान साधकों की जीवन गाथाओं के उल्लेख जैनागमों में मिलते हैं, जो इस तथ्य के सूचक हैं कि जैनधर्म में जातिवाद या ऊँच-नीच के भेद-भाव मान्य नहीं थे।[१९] इस प्रकार जैनधर्म समाज में वर्गभेद और वर्णभेद का विरोधी था। उसका उद्घोष था कि सम्पूर्ण मानव-जाति एक है।[२०]

सामाजिक जीवन की पवित्रता का आधार विवाह संस्था

सामाजिक जीवन का प्रारम्भ परिवार से ही होता है और परिवार का निर्माण विवाह के बन्धन से होता है। अत: विवाह-संस्था सामाजिक दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। विवाह-संस्था के उद्भव के पूर्व यदि कोई समाज रहा होगा तो वह भयभीत प्राणियों का एक समूह रहा होगा, जो पारस्परिक सुरक्षा हेतु एक-दूसरे से मिलकर रहते होंगे। विवाह का आधार केवल काम-वासना की सन्तुष्टि ही नहीं है, अपितु पारस्परिक आकर्षण और प्रेम भी है। यह स्पष्ट है कि निवृत्तिप्रधान संन्यासमार्गी जैन परम्परा में इस विवाह संस्था के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलते हैं। जैनधर्म अपनी वैराग्यवादी परम्परा के कारण प्रथमत: तो यही मानता रहा कि उसका प्रथम कर्त्तव्य व्यक्ति को संन्यास की दिशा में प्रेरित करना है, इसलिये प्राचीन जैन आगमों में जैनधर्मानुकूल विवाह-पद्धति के कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनकाल में बृहद् भारतीय समाज या हिन्दू समाज से पृथक् जैनों की अपनी कोई विवाह-पद्धति रही होगी यह कहना भी कठिन है। यद्यपि यह सत्य है कि जैन धर्मानुयायियों में प्राचीनकाल से ही विवाह होते रहे हैं। जैन पुराण साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि ऋषभदेव से पूर्व यौगलिक काल में भाई-बहन ही युवावस्था में पति-पत्नी के रूप में व्यवहार करने लगते थे और एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने पर ऋषभ ने सर्वप्रथम विवाह-पद्धति का प्रारम्भ किया था।[२१] पुन: भरत और बाहुबली की बहनों — ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा भी आजीवन ब्रह्मचारी रहने और अपने भाइयों से विवाह न करने का निर्णय लिये जाने पर समाज में विवाह-व्यवस्था को प्रधानता मिली,

किन्तु विवाह को धार्मिक जीवन का अंग न मानने के कारण जैनों ने प्राचीन काल में किसी विवाह-पद्धति का विकास नहीं किया। इस सम्बन्ध में जो भी सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं उस आधार पर यही कहा जा सकता है कि विवाह के सम्बन्ध में जैनसमाज बृहद् हिन्दू-समाज के ही विधि-विधानों का अनुगमन करता रहा और आज भी करता है।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में विवाह कैसे किया जाय, इसका उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु विवाह संस्था को यौन सम्बन्धों के संयमन का एक साधन मानकर उसमें गृहस्थ उपासकों के लिये स्वपत्नी-सन्तोषव्रत का विधान अवश्य मिलता है। आदिपुराण में विवाह एवं पति-पत्नी के पारस्परिक एवं सामाजिक दायित्वों की चर्चा है, उसमें विवाह के दो उद्देश्य बताए गए हैं — (१) कामवासना की तृप्ति और (२) सन्तानोत्पत्ति। जैनाचार्यों ने विवाह संस्था को यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण एवं वैधीकरण के लिये आवश्यक माना था। गृहस्थ का स्वपत्नी सन्तोषव्रत न केवल व्यक्ति की कामवासना को नियन्त्रित करता है, अपितु सामाजिक जीवन में यौन-व्यवहार को परिष्कृत भी बनाता हैं। अविवाहित स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने, वेश्यागमन करने आदि के निषेध इसी बात के सूचक हैं। जैनधर्म सामाजिक जीवन में यौन सम्बन्धों की शुद्धि को आवश्यक मानता है। विवाह के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आदिपुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति उसके उपशमनार्थ कटु-औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम-ज्वर से सन्तप्त हुआ प्राणी उसके उपशमनार्थ स्त्रीरूपी औषधि का सेवन करता है।[११] इससे इतना प्रतिफलित होता है कि जैनधर्म अवैध या स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों का समर्थक नहीं रहा है। उसमें विवाह-सम्बन्धों की यदि कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका है तो वह यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण की दृष्टि से ही है और यह उसकी निवृत्तिमार्गी धारा के अनुकूल भी है। उसकी मान्यता के अनुसार यदि कोई आजीवन ब्रह्मचारी बनकर संयम-साधना में अपने को असमर्थ पाता है तो उसे विवाह सम्बन्ध के द्वारा अपनी यौनवासना को नियन्त्रित कर लेना चाहिये। इसीलिये श्रावक के पाँच अणुव्रतों में स्व-पत्नी सन्तोषव्रत नामक व्रत रखा गया है। पुनः श्रावक जीवन के मूलभूत गुणों की दृष्टि से वेश्यागमन और परस्त्री-गमन को निषिद्ध ठहराया गया। इस प्रकार चाहे विधिमुख से न हो किन्तु निषेधमुख से जैनधर्म विवाह-संस्था की उपयोगिता और महत्ता को स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है।

चाहे धार्मिक विधि-विधान के रूप में जैनों में विवाह सम्बन्धी उल्लेख न मिलता हो, किन्तु जैन कथा-साहित्य में जो विवरण उपलब्ध होते हैं, उनके

आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में समान वय और समान कुल के मध्य विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के उल्लेख मिलते हैं।[२३] आगमों में यह भी उल्लेख मिलता है कि बालभाव से मुक्त होने पर ही विवाह किये जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म में बाल-विवाह की अनुमति नहीं थी। मात्र यही नहीं कुछ कथानकों में बाल-विवाह के अथवा अवयस्क कन्याओं के विवाह के दूषित परिणामों के उल्लेख भी मिल जाते हैं। विवाह सम्बन्ध को हिन्दूधर्म की तरह ही जैनधर्म में भी एक आजीवन सम्बन्ध ही माना गया था। अत: विवाह-विच्छेद को जैनधर्म में भी कोई स्थान नहीं मिला। वैवाहिक जीवन दूभर होने पर उस स्त्री का भिक्षुणी बन जाना ही एकमात्र विकल्प था। जैन आचार्यों ने अल्प-कालीन विवाह-सम्बन्ध और अल्पवयस्क विवाह को घृणित माना है और इसे श्रावक-जीवन का एक दोष निरूपित किया है।[२४] जहाँ तक बहुपति-प्रथा का प्रश्न है, हमें द्रौपदी के एक आपवादिक कथानक के अतिरिक्त इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु बहुपत्नी-प्रथा जो प्राचीनकाल में एक सामान्य परम्परा बन गई थी, उसका उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। इस बहुपत्नी-प्रथा को जैन-परम्परा का धार्मिक अनुमोदन हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में ऐसा कोई विधायक निर्देश प्राप्त नहीं होता, जिसमें बहुपत्नी-प्रथा का समर्थन किया गया हो। जैन-साहित्य मात्र इतना ही बतलाता है कि बहुपत्नी-प्रथा उस समय सामान्यरूप से प्रचलित थी और जैन परिवारों में भी अनेक पत्नियाँ रखने का प्रचलन था, किन्तु जैन-साहित्य में हमें कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि किसी श्रावक ने जैनधर्म के पंच-अणुव्रतों का ग्रहण करने के पश्चात् अपना विवाह किया हो। गृहस्थ उपासक के स्वपत्नी सन्तोषव्रत के जिन अतिचारों का उल्लेख मिलता है उनमें एक परविवाहकरण भी है।[२५] यद्यपि इसका अर्थ जैन आचार्यों ने अनेक दृष्टि से किया है किन्तु इसका सामान्य अर्थ दूसरा विवाह करना ही है। इससे ऐसा लगता है कि जैन आचार्यों का अनुमोदन तो एकपत्नीव्रत की ओर ही था। आगे चलकर इसका अर्थ यह भी किया जाने लगा कि स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्य की सन्तानों का विवाह करवाना, किन्तु मेरी दृष्टि में यह एक परवर्ती अर्थ है।

इसी प्रकार वेश्यागमन को भी निषिद्ध माना गया। अपरिगृहीता अर्थात् अविवाहिता स्त्री से यौन-सम्बन्ध बनाना भी श्रावकव्रत का एक अतिचार (दोष) माना गया।[२६] जैनाचार्यों में सोमदेव ही एकमात्र अपवाद हैं, जो गृहस्थ के वेश्यागमन को अनैतिक घोषित नहीं करते। शेष सभी जैनाचार्यों ने वेश्यागमन का एक स्वर से निषेध किया है।

जहाँ तक प्रेम-विवाह और माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह सम्बन्धों का प्रश्न है, जैनागमों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है कि वह किस प्रकार के विवाह-सम्बन्धों को करने योग्य मानते हैं। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा के द्रौपदी एवं मल्लि अध्ययन में पिता-पुत्री से स्पष्ट रूप से यह कहता है कि मेरे द्वारा किया गया चुनाव तेरे कष्ट का कारण हो सकता है, इसलिये तुम स्वयं ही अपने पति का चुनाव करो।[२७] इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैन-परम्परा में माता-पिता द्वारा आयोजित विवाहों और युवक-युवतियों द्वारा अपनी इच्छा से चुने गये विवाह सम्बन्धों को मान्यता प्राप्त थी।

जैन परिवार के युवक-युवतियों का जैन परिवार में ही विवाह हो, यह आवश्यक नहीं था। अनेक जैन कथाओं में अन्य धर्मावलम्बी कन्याओं से विवाह करने के उल्लेख मिलते हैं और यह व्यवस्था आज भी प्रचलित है। आजं भी जैन परिवार अपनी समान जाति के हिन्दू परिवार की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध करते हैं। इसी प्रकार अपनी कन्या को हिन्दू परिवारों में प्रदान भी करते हैं। सामान्यतया विवाहित होने पर पत्नी-पति के धर्म का अनुगमन करती है। किन्तु प्राचीनकाल से आज तक ऐसे भी सैकड़ों उदाहरण जैन साहित्य में और सामाजिक जीवन में मिलते हैं जहाँ पति-पत्नी के धर्म का अनुगमन करने लगता है या फिर दोनों अपने-अपने धर्म का परिपालन करते हैं और सन्तान को उनमें से किसी के भी धर्म को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। फिर भी इस विसंवाद से बचने के लिये सामान्य व्यवहार में इस बात को प्राथमिकता दी जाती है कि जैन परिवार के युवक-युवतियाँ जैन परिवार में ही विवाह करें।

पारिवारिक दायित्व और जैन दृष्टिकोण

गृहस्थ का सामाजिक दायित्व अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिजनों की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे, वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति उनकी भक्ति-भावना का ही सूचक है। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है। जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देखने को नहीं मिला जहाँ बिना परिजनों की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनों एवं समाज (संघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति या पत्नी की

अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्ति पाकर ही संन्यास ग्रहण करे। इस बात की पुष्टि अन्तकृद्दशा के निम्न उदाहरण से होती है — जब श्रीकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि द्वारिका का शीघ्र ही विनाश होने वाला है, तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा करवा दी कि यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेना चाहता हो किन्तु इस कारण से नहीं ले पा रहा हो कि उसके माता-पिता, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी का पालन-पोषण कौन करेगा, तो उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं वहन कर लूँगा।[२८] यद्यपि बुद्ध ने प्रारम्भ में संन्यास के लिये परिजनों की अनुमति को आवश्यक नहीं माना था। अत: अनेक युवकों ने परिजनों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश ले लिया था, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी यह नियम बना दिया था कि बिना परिजनों की अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जाये। मात्र यही नहीं उन्होंने यह भी घोषित कर दिया कि ऋणी, राजकीय सेवक या सैनिक को भी, जो सामाजिक उत्तरदायित्वों से भाग कर भिक्षु बनना चाहते हैं, बिना पूर्व अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जावे। हिन्दूधर्म भी पितृ-ऋण अर्थात् सामाजिक दायित्व को चुकाये बिना संन्यास की अनुमति नहीं देता है। चाहे संन्यास लेने का प्रश्न हो या गृहस्थ जीवन में ही आत्मसाधना की बात हो, सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है।

सामाजिक धर्म

जैन आचार-दर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गयी है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैन विचारकों ने संघ या सामाजिक जीवन की प्रमुखता सदैव स्वीकार की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है — (१) ग्रामधर्म, (२) नगरधर्म, (३) राष्ट्रधर्म, (४) पाखण्डधर्म, (५) कुलधर्म, (६) गणधर्म, (७) संघधर्म, (८) सिद्धान्तधर्म (श्रुतधर्म), (९) चारित्रधर्म और (१०) अस्तिकायधर्म।[२९] इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. ग्रामधर्म — ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिये जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अत: सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूरी तरह व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना और

आपस में वैमनस्य और क्लेश उत्पन्न न हो, उसके लिये प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख तत्त्व हैं। ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शान्ति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शान्ति और व्यवस्था के लिये आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिये जागृत रहे कि उसके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे। ग्रामस्थविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। ग्रामस्थविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शान्ति एवं विकास के लिये, ग्रामजनों में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहे।

२. नगरधर्म — ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम को जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यत: ग्राम-धर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शान्ति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्पंरिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है। लेकिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगीन सन्दर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का शोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिये वरन् उन समग्र ग्रामवासियों के हित की भी चिन्ता करनी चाहिये, जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर हैं। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्त्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन-सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिये नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगर-निगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

३. राष्ट्रधर्म — जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बाँधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका

समुचित रूप से पालन करना। उपासकदशांगसूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनागमों में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातन्त्र में जो स्थान राष्ट्रपति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का रहा होगा, यह माना जा सकता है।

४. पाखण्डधर्म — जैन आचार्यों ने पाखण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो वह पाखण्ड है।[३०] दशवैकालिक-निर्युक्ति के अनुसार पाखण्ड एक व्रत का नाम है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाखण्डी।[३१] सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है; वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है। पाखण्डधर्म के लिये व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्ता-स्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियन्त्रित करने वाला अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य लोगों को धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत-पालन के लिये प्रेरित करते रहना है। हमारे विचार में प्रशास्ता-स्थविर राजकीय धर्माधिकारी के समान होता होगा, जिसका कार्य जनता को सामान्य नैतिक जीवन की शिक्षा देना होता होगा।

५. कुलधर्म — परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है। परिवार के सदस्य कुलस्थविर की आज्ञाओं का पालन करते हैं और कुलस्थविर का कर्तव्य है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिये कुलधर्म का पालन आवश्यक है, यद्यपि मुनि का कुल उसके पिता के आधार पर नहीं वरन् गुरु के आधार पर बनता है।

६. गणधर्म — गण का अर्थ समान आचार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है। महावीर के समय में हमें गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्तात्मक राज्य होते हैं। गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण दो माने गये हैं — १. लौकिक (सामाजिक) और २. लोकोत्तर (धार्मिक)। जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी साधुओं के गण होते हैं जिन्हें 'गच्छ' कहा जाता है। प्रत्येक गण (गच्छ) के आचार-नियमों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी रहता है। गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है। परस्पर सहयोग तथा मैत्री रखना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। गण का एक गणस्थविर होता है। गण की देशकालगत

परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्थाएँ देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणस्थविर का कार्य है। जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है। बुद्ध ने भी गण की उन्नति के नियमों का प्रतिपादन किया है।

७. संघधर्म — विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है। जैन आचार्यों के संघधर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है। संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है, जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं। संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है।

जैन-परम्परा में संघ के दो रूप हैं — १. लौकिक संघ और २. लोकोत्तर संघ। लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है, जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है। लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करे। संघ में किसी भी प्रकार के मनमुटाव अथवा संघर्ष के लिये कोई भी कार्य नहीं करे। एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये सदैव ही प्रयत्नशील रहे। जैन परम्परा के अनुसार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है। नन्दीसूत्र में संघ के महत्त्व का विस्तारपूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में नैतिक साधना में संघीय जीवन का कितना अधिक महत्त्व है।[११]

८. श्रुतधर्म — सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिक्षण-व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना। शिष्य का गुरु के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो, यह श्रुतधर्म का ही विषय है। सामाजिक सन्दर्भ में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिक्षण की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है। गुरु और शिष्य के कर्त्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है। योग्य शिष्य को ज्ञान देना गुरु का कर्त्तव्य है, जबकि शिष्य का कर्त्तव्य गुरु की आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करना है।

९. चारित्रधर्म — चारित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचारनियमों का परिपालन करना। यद्यपि चारित्रधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा सम्बन्धी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शान्ति के संस्थापन के लिये हैं। अनाग्रह

सामाजिक जीवन से वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं, यह माना जा सकता है।

१०. अस्तिकायधर्म — अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध तत्त्वमीमांसा से है, अतः उसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया वरन् सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। जैन सूत्रों में उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का यह वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करते हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है।

वस्तुतः जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को शुद्ध और मधुर बनाता है। उसके सामाजिक आदेश निम्नलिखित हैं —

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के निष्ठा सूत्र

१. सभी आत्माएँ स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक-जीवन में ऊँच-नीच के वर्ग-भेद खड़े मत करो। — उत्तराध्ययन, १२/३७

२. सभी आत्माएँ समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है।
— आचारांग, १/२/३/३

३. सबके साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो। — बृहत्कल्पभाष्य, ४५८४

४. संसार के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो। — मूलाचार, २८

५. गुणीजनों के प्रति आदर-भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा-भाव (तटस्थ-वृत्ति) रखो। — सामायिक पाठ १

६. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्यभाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा-सहयोग प्रदान करो।

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के व्यवहार सूत्र

उपासकदशांगसूत्र, योगशास्त्र एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित श्रावक के गुणों, बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों से निम्न सामाजिक आचारनियम फलित होते हैं —

१. किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनों की स्वतन्त्रता में बाधक मत बनो।

२. किसी का वध या अंगछेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो, किसी पर शक्ति से अधिक बोझ मत लादो।

३. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।

४. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़प जाओ और न किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करो।

५. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाहें मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।

६. अपने स्वार्थ की सिद्धि-हेतु असत्य घोषणा मत करो।

७. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो और न चोरी का माल खरीदो।

८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप-तौल में प्रामाणिकता रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।

९. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवंचन मत करो।

१०. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वेश्या-संसर्ग, वेश्या-वृत्ति एवं उसके द्वारा धन का अर्जन मत करो।

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोकहितार्थ व्यय करो।

१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।

१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।

१४. वे सभी कार्य मत करो, जिससे तुम्हारा कोई हित नहीं होता हो।

१५. यथासम्भव अतिथियों की, सन्तजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।

१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करो।

१७. दूसरों की अवमानना मत करो, विनीत बनो, दूसरों का आदर-सम्मान करो।

१८. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो। दूसरों के प्रति व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।

१९. तृष्णा मत रखो, आसक्ति मत बढ़ाओ। संग्रह मत करो।

२०. न्याय-नीति से धन उपार्जन करो।

२१. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करो।

२२. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करो।

२३. सदाचारी पुरुषों की संगति करो।

२४. माता-पिता की सेवा-भक्ति करो।

२५. रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहो, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहो।

२६. आय के अनुसार व्यय करो।

२७. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनो।

२८. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करो कि कोई किसी का बाधक न हो।

२९. अतिथि और साधुजनों का यथायोग्य सत्कार करो।

३०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न होओ।

३१. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करो।

३२. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करो।

३३. अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रतापूर्वक स्वीकार करो।

३४. अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करो।

३५. परोपकार करने में उद्यत रहो। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे मत हटो।

सन्दर्भ

१. ऋग्वेद, १०/१९/१२.
२. ईशावास्योपनिषद्, ६.
३. वही, १.
४. श्रीमद्भागवत, ७/१४/८.
५. आचारांग, १/५/५.
६. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २/१/२.
७. वही, २/१/३.
८. समन्तभद्र, युक्त्यानुशासन, ६१.
९. स्थानांग, १०/७६०.

१०. देखें — सागरमल जैन, व्यक्ति और समाज, श्रमण, वर्ष ३४ (१९८३) अंक २.
११. देखें — प्रबन्धकोश, भद्रबाहु कथानक.
१२. उद्धृत — (क) रतनलाल दोशी, आत्मसाधना संग्रह, पृ० ४४१.
(ख) भगवतीआराधना, भाग १, पृ० १९७.
१३. Bradle, Ethical Studies.
१४. मुनि नथमल, नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४.
१५. उमास्वाति,. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१.
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/१९.
१७. आचारांग, १/२/३/७५.
१८. सागरमल जैन, सागर जैन-विद्या भारती, भाग १, पृ० १५३.
१९. जटासिंहनन्दि, वरांगचरित, सर्ग २५, श्लोक ३३-४३.
२०. आचारांगनिर्युक्ति, १९.
२१. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० १५२.
२२. जिनसेन, आदिपुराण, ११/१६६-१६७.
२३. अन्तकृद्दशांग, ३/१/३.
२४. उपासकदशांग, १/४८.
२५. वही, १/४८.
२६. वही, १/४८.
२७. ज्ञाताधर्मकथा, ८ (मल्लिअध्ययन), १६ (द्रौपदी अध्ययन).
२८. अन्तकृद्दशांग, ५/१/२१.
२९. स्थानांग, १०/७६०। विशेष विवेचन के लिये देखें — धर्मव्याख्या, जवाहर लालजी म. और धर्म-दर्शन, शुक्लचन्द्रजी म.
३०. धर्मदर्शन, पृ० ८६.
३१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, १५८.
३२. नन्दीसूत्र — पीठिका, ४-१७.

●

अध्यात्म और विज्ञान

औपनिषदिक ऋषिगण, बुद्ध और महावीर भारतीय अध्यात्म परम्परा के उन्नायक रहे हैं। उनके आध्यात्मिक चिन्तन ने भारतीय मानस को आत्मतोष प्रदान किया है। किन्तु आज हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ आज हमें उद्वेलित कर रही हैं। आज का मनुष्य दो तलों पर जीवन जी रहा है। यदि विज्ञान को नकारता है तो जीवन की सुख-सुविधा और समृद्धि के खोने का खतरा है, दूसरी ओर अध्यात्म को नकारने पर आत्म-शान्ति से वंचित होता है। आज आवश्यकता है इन ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रतिस्थापित आध्यात्मिक मूल्यों और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय की। निश्चय ही 'विज्ञान और अध्यात्म' की चर्चा आज प्रासंगिक है।

सामान्यतया आज विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी अवधारणाओं के रूप में देखा जाता है। आज जहाँ अध्यात्म को धर्मवाद और पारलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है, वहाँ विज्ञान को भौतिकता और इहलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है। आज दोनों में विरोध देखा जाता है, लेकिन यह अवधारणा ही भ्रान्त है। प्राचीन युग में तो विज्ञान और अध्यात्म ये शब्द भी परस्पर भिन्न अर्थ के बोधक नहीं थे। महावीर ने आचारांगसूत्र में कहा है कि "जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।"[१] यहाँ आत्मज्ञान और विज्ञान एक ही हैं। वस्तुतः 'विज्ञान' शब्द वि + ज्ञान से बना है, 'वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है। अतः विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। आज जो विज्ञान शब्द केवल पदार्थ ज्ञान के रूप में रूढ़ हो गया है वह मूलतः विशिष्ट ज्ञान या आत्म-ज्ञान ही था। आत्म-ज्ञान ही विज्ञान है। पुनः 'अध्यात्म' शब्द भी अधि + आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग भी विशिष्टता का ही सूचक है। जहाँ आत्म की विशिष्टता है, वही अध्यात्म है। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, अतः ज्ञान की विशिष्टता ही अध्यात्म है और वही विज्ञान है। फिर भी आज विज्ञान पदार्थ-ज्ञान में और अध्यात्म आत्म-ज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। मेरी दृष्टि में विज्ञान साधनों का ज्ञान है तो अध्यात्म साध्य का ज्ञान। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं रूढ़ अर्थों में विज्ञान और अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। एक हमें बाह्य जगत् से जोड़ता है तो दूसरा हमें अपने से जोड़ता है। दोनों ही 'योग' हैं। एक साधन योग है, तो दूसरा साध्ययोग। एक हमें जीवन शैली (Life style) देता है तो दूसरा हमें जीवन साध्य (Goal of

life) देता है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि जो एक दूसरे के पूरक हैं, उन्हें हमने एक दूसरे का विरोधी मान लिया। आज आवश्यकता इस बात की है कि इनकी परस्पर पूरक शक्ति या अभिन्नता को समझा जाये।

धर्म-शब्द के तीन अर्थ हैं — १. स्वभाव, २. कर्त्तव्य और ३. साधना या उपासना की प्रक्रिया विशेष अथवा श्रद्धा-विशेष। अपने पहले अर्थ में वह विज्ञान से सम्बन्धित है। जहाँ धर्म वस्तु-स्वभाव है वहाँ विज्ञान वस्तु-स्वभाव (Nature of things) के अध्ययन करने की पद्धति है। अत: वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। धर्म स्वभाव में जीना है और विज्ञान उस स्वभाव को पहचानना है। अत: विज्ञान के बिना धर्म असम्भव है। स्वभाव को जानकर ही जीया जा सकता है । विज्ञान हमें स्व-स्वभाव का बोध कराता है और धर्म विभाव से स्वभाव में आने की प्रक्रिया सिखाता है। धर्म अपने दूसरे और तीसरे अर्थ में अध्यात्म के निकट है और इस अर्थ में उसे विज्ञान निरपेक्ष कहा जा सकता है। क्योंकि कर्त्तव्य की अवधारणा भी विज्ञान-विहीन है। कर्त्तव्य भी व्यक्ति के स्वभाव और परिवेश के सन्दर्भ में ही निर्धारित होता है। किस परिस्थिति में किस व्यक्ति को क्या करना है — इसका निर्णय वैज्ञानिक दृष्टि पर ही निर्भर करता है। यद्यपि धर्म और विज्ञान में इस बात को लेकर अन्तर माना जाता है कि जहाँ धर्म श्रद्धाप्रधान है, वहाँ विज्ञान तर्कप्रधान है। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा है क्योंकि न तो विज्ञान श्रद्धा या आस्था का विरोधी है और न धर्म ही तर्क का विरोधी। विज्ञान में हम प्रारम्भ, परिकल्पना (Hypothesis) या आस्था से करते हैं तो धर्म में तर्क को स्थान देकर उसे वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। अत: दोनों में विरोध नहीं है। आज धर्म को वैज्ञानिक (Scientific) होना होगा और विज्ञान को धार्मिक।

पुन: धर्म को पारलौकिक और विज्ञान को आनुभविक (ऐहिक) माना जाता है, किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। बुद्ध ने अपने उपदेश में अजातशत्रु को कहा था — मैं किसी पारलौकिक धर्म की बात नहीं कहता। मैं जिस धर्म को सिखाता हूँ, वह तो तात्कालिक है। क्रोध नहीं करने से जो शान्ति आती है — वह तो तात्कालिक है। आज धर्म को स्वर्ग और नरक के प्रलोभन और भय पर नहीं सिखाया जा सकता है। आज धर्म को ऐहिक जीवन से जोड़ना होगा, विज्ञान को परमार्थ (Transcendental) की खोज करनी होगी।

आज धर्म को कर्मकाण्ड से जोड़ लिया गया है, किन्तु अब समय आ गया है, जब विज्ञान की सहायता से इन कर्मकाण्डों की ऐहिक उपयोगिता को खोजना होगा। अब धर्म और विज्ञान समन्वित होकर ही मानव कल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। आज धर्म कर्मकाण्ड और अन्ध श्रद्धा से इतना जुड़ गया

है कि वे ही धर्म के पर्याय बन गये हैं। 'धर्म' शब्द से कोई भ्रान्ति न हो इसलिये 'धर्म' के स्थान पर 'अध्यात्म' शब्द का प्रयोग अधिक उपयोगी होगा।

आज हम विज्ञान को पदार्थ विज्ञान मानते हैं। हमने 'पर' या 'अनात्म' के सन्दर्भ में इतना अधिक ज्ञान अर्जित कर लिया है कि 'स्व' या 'आत्म' को विस्मृत कर बैठे हैं। हमने परमाणु के आवरण को तोड़कर उसके जर्रे-जर्रे को जानने का प्रयास किया है किन्तु दुर्भाग्य यही है कि अपनी आत्मा के आवरण को भेदकर अपने आपको नहीं जान सके हैं। हम परिधि को व्यापकता देने में केन्द्र ही भुला बैठे। मनुष्य की यह परकेन्द्रितता ही उसे अपने आपसे बहुत दूर ले गई है। यही आज के जीवन की त्रासदी है। वह दुनिया को समझता है, जानता है, परखता है, किन्तु अपने प्रति तन्द्राग्रस्त है। उसे स्वयं यह बोध नहीं है कि मैं कौन हूँ? मैरा कर्त्तव्य क्या है? लक्ष्य क्या है? वह भटक रहा है। मात्र भटक रहा है। आज से २५०० वर्ष पूर्व महावीर ने मनुष्य की उस पीड़ा को समझा था। उन्होंने कहा था कि कितने ही लोग ऐसे हैं जो नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है[१]? यह केवल महावीर ने कहा हो ऐसी बात नहीं है। बुद्ध ने भी कहा था 'अत्तानं गवेस्सेथ' अपने को खोजो। औपनिषदिक ऋषियों ने कहा — 'आत्मनं विद्धि' 'अपने आपको जानो', यही जीवन-परिशोधन का मूल मन्त्र है। आज हमें पुनः इन्हीं प्रश्नों के उत्तर को खोजना है। आज का विज्ञान आपको पदार्थ जगत् के सन्दर्भ में सूक्ष्मतम सूचनाएँ दे सकता है किन्तु वे सूचनाएँ हमारे लिये ठीक उसी तरह अर्थहीन हैं जिस प्रकार जब तक आँख न खुली हो, तब तक प्रकाश का कोई मूल्य नहीं। विज्ञान प्रकाश है किन्तु अध्यात्म की आँख के बिना उसकी कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा था कि अन्धे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या लाभ? जिसकी आँखें खुली हों उसके लिये एक ही दीपक पर्याप्त है। आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह विज्ञान और तकनीकी के सहारे बाह्य जगत् में विद्युत की चकाचौंध फैला रहा है किन्तु अपने अन्तर्चक्षु का उन्मीलन नहीं कर रहा है। प्रकाश की चकाचौंध में हम अपने को ही नहीं देख पा रहे हैं। यह सत्य है कि प्रकाश आवश्यक है किन्तु आँखें खोले बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति दी है। आज वह ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से यात्रा कर सकता है। किन्तु स्मरण रहे कि विज्ञान जीवन के लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर सकता। लक्ष्य का निर्धारण तो अध्यात्म ही कर सकता है। विज्ञान साधन देता है, लेकिन उसका उपयोग किस दिशा में करना होगा यह बतलाना अध्यात्म का कार्य है। पूज्य विनोबा जी के शब्दों में, "विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है, एक विनाश शक्ति

और दूसरी विकास शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि नारायण की खोज हुई तो उससे रसोई भी बनायी जा सकती है और उससे आग भी लगाई जा सकती है। अग्नि का प्रयोग घर फूँकने में करना या चूल्हा जलाने में, यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। अक्ल तो आत्म-ज्ञान में है।''[३] आगे वे कहते हैं — ''आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव। अगर मानव को आत्मज्ञान नहीं तो वह अन्धा है। कहाँ चला जायेगा कुछ पता नहीं।''[४] दूसरे शब्दों में कहें, तो अध्यात्म देखता तो है लेकिन चल नहीं सकता अर्थात् उसमें लक्ष्य-बोध तो है किन्तु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किन्तु आँख नहीं है, लक्ष्य का बोध नहीं। जिस प्रकार अन्धे और लँगड़े दोनों ही परस्पर सहयोग के अभाव में दावानल में जल मरते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि आज विज्ञान और अध्यात्म परस्पर एक दूसरे के पूरक नहीं होंगे तो मानवता अपने ही द्वारा लगाई गई विस्फोटक शस्त्रों की इस अग्नि में जल मरेगी। बिना विज्ञान के संसार में सुख नहीं आ सकता और बिना अध्यात्म के शान्ति नहीं आ सकती। मानव समाज की सुख (Pleasure) और शान्ति (Peace) के लिये दोनों का परस्पर होना आवश्यक है। वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग मानव-कल्याण में हो या मानव-संहार में, इस बात का निर्धारण विज्ञान से नहीं, आत्मज्ञान या अध्यात्म से करना होगा। अणु शक्ति का उपयोग मानव के संहार में हो या मानव के कल्याण में, यह निर्णय करने का अधिकार उन वैज्ञानिकों को भी नहीं है, जो सत्ता, स्वार्थ और समृद्धि के पीछे अन्धे राजनेताओं के दास हैं। यह निर्णय तो मानवीय विवेक सम्पन्न निःस्पृह साधकों को ही करना होगा। यह सत्य है कि विज्ञान के सहयोग से तकनीक का विकास हुआ और उसने मानव के भौतिक दुःखों को बहुत कुछ कम कर दिया, किन्तु दूसरी ओर उसने मारक शक्ति के विकास के द्वारा भय या संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर मानव की शान्ति को भी छीन लिया है। आज मनुष्य जाति भयभीत और संत्रस्त है। आज वह विस्फोटक अस्त्रों के ज्वालामुखी पर खड़ी है, जो कब विस्फोट कर हमारे अस्तित्व को निगल लेगी, यह कहना कठिन है। आज हमारे पास जिन संहारक अस्त्रों का संग्रह है, वे पृथ्वी के सम्पूर्ण जीवन को अनेक बार समाप्त कर सकते हैं।

पूज्य विनोबाजी लिखते हैं, ''जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म की खोज करता है जिससे करुणा का कार्य होता है, वही विज्ञान अणु अस्त्रों की खोज करता है जिससे भयंकर संहार होता है। एक बाजू सिपाही को जखमी करता है दूसरा बाजू उसको दुरुस्त करता है, यह गोरखधन्धा आज विज्ञान की मदद से चल रहा है। इस हालत में विज्ञान का सारा कार्य उसको मिलने वाले मार्गदर्शन

पर आधारित है। उसे जैसा मार्गदर्शन मिलेगा, वह वैसा कार्य करेगा।[५]

यदि विज्ञान पर सत्ता के आकांक्षियों का, राजनीतिज्ञों का और अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने वालों का अधिकार होगा तो वह मनुष्य जाति का संहारक ही बनेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि विज्ञान पर मानव-मंगल के द्रष्टा अनासक्त ऋषियों-महर्षियों का अधिकार होगा, तो वह मानव के विकास में सहायक होगा। आज हम विज्ञान के माध्यम से तकनीकी प्रगति की उस ऊँचाई तक पहुँच चुके हैं जहाँ से लौटना भी सम्भव नहीं है। आज मनुष्य उस दोराहे पर खड़ा है जहाँ पर उसे हिंसा और अहिंसा के दो रास्तों में से किसी एक को चुनना है। आज उसे यह समझना है कि वह विज्ञान के साथ किसको जोड़ना चाहता है, हिंसा को या अहिंसा को। आज उसके सामने दोनों विकल्प प्रस्तुत हैं। विज्ञान + अहिंसा = विकास। विज्ञान + हिंसा = विनाश। जब विज्ञान अहिंसा के साथ जुड़ेगा तो वह समृद्धि और शान्ति लायेगा किन्तु जब उसका गठबन्धन हिंसा से होगा तो संहारक होगा और अपने ही हाथों अपना विनाश करेगा।

आज विज्ञान के सहारे मनुष्य ने जितना पाशविक बल संगृहीत कर लिया है। वह उसका रक्षक न होकर कहीं भक्षक न बन जाय, यह उसे सोचना है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था "अत्थि सत्थेन परंपरं, नत्थि असत्थेन परंपरं"[६], अर्थात् शस्त्र एक से बढ़कर एक हो सकता है किन्तु अहिंसा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। आज सम्पूर्ण मानव समाज को यह निर्णय लेना होगा कि वे वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग मानवता के कल्याण के लिए करना चाहते हैं या उसके संहार के लिए। आज तकनीकी प्रगति के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम हो गई है। आज विज्ञान ने मानव-समाज को एक दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। आज हम परस्पर इतने निर्भर बन गये हैं कि एक दूसरे के बिना खड़े भी नहीं रह सकते, किन्तु दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण हमारे हृदयों की दूरी अधिक विस्तीर्ण हो गई है। हृदय की इस दूरी को पाटने का काम विज्ञान नहीं, अध्यात्म ही कर सकता है।

विज्ञान का कार्य है — विश्लेषित करना और अध्यात्म का काम है — संश्लेषित करना। विज्ञान तोड़ता है, अध्यात्म जोड़ता है। विज्ञान वियोजक है तो अध्यात्म संयोजक। विज्ञान पर-केन्द्रित है तो अध्यात्म आत्म-केन्द्रित। विज्ञान सिखाता है कि हमारे सुख-दुःख का केन्द्र वस्तुएँ हैं, पदार्थ हैं, इसके विपरीत अध्यात्म कहता है कि सुख-दुःख का केन्द्र आत्मा है। विज्ञान की दृष्टि बाहर देखती है, अध्यात्म अन्तर में देखता है। विज्ञान की यात्रा अन्दर से बाहर की ओर है तो अध्यात्म की यात्रा बाहर से अन्दर की ओर। मनुष्य को आज यह समझना

है कि यदि यात्रा बाहर की ओर होती रही तो वह शान्ति, जिसकी उसे खोज है, कभी नहीं मिलेगी। क्योंकि बहिर्मुखी यात्री शान्ति की खोज वहाँ करता है जहाँ वह नहीं है। शान्ति अन्दर है उसकी खोज बाहर व्यर्थ है।

इस सम्बन्ध में एक रूपक याद आता है — एक वृद्धा शाम के समय कुछ सिल रही थी। संयोग से अँधेरा बढ़ने लगा, सूई उसके हाथ से छूटकर कहीं गिर पड़ी। महिला की झोपड़ी में प्रकाश का साधन नहीं था और प्रकाश के बिना सूई की खोज असम्भव थी। बुढ़िया ने सोचा क्या हुआ। अगर प्रकाश बाहर है तो सूई को वहीं खोजा जाये। वह उस प्रकाश में सूई खोजती रही, खोजती रही किन्तु सूई वहाँ कब मिलने वाली थी, क्योंकि वह वहाँ थी ही नहीं। प्रात: होने वाला था कि कोई यात्री उधर से निकला, उसने वृद्धा से उसकी परेशानी का कारण पूछा। उसने पूछा अम्मा सूई गिरी कहाँ थी। वृद्धा ने उत्तर दिया, 'बेटा ! सूई गिरी तो झोपड़ी में थी किन्तु उजाला नहीं था, अत: खोजना सम्भव नहीं था। उजाला तो बाहर था, इसलिये मैं यहाँ खोज रही थी।' यात्री ने उत्तर दिया — "यह सम्भव नहीं है कि जो चीज जहाँ नहीं है वहाँ खोजने पर मिल जाये। सूर्य का प्रकाश होने को है, उस प्रकाश में सूई वहीं खोजें जहाँ गिरी है।" आज मानव-समाज की स्थिति भी उसी वृद्धा के समान है। हम शान्ति की खोज वहाँ कर रहे हैं जहाँ वह होती ही नहीं। शान्ति आत्मा में है, अन्दर है? विज्ञान के सहारे आज शान्ति की खोज के प्रयत्न उस बुढ़िया के प्रयत्नों के समान निरर्थक ही होंगे। विज्ञान, साधन दे सकता है, शक्ति दे सकता है किन्तु लक्ष्य का निर्धारण तो हमें ही करना होगा।

आज विज्ञान के कारण मानव के पूर्व स्थापित जीवन-मूल्य समाप्त हो गये हैं। आज श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया है। आज मनुष्य पारलौकिक उपलब्धियों के स्थान पर इहलौकिक उपलब्धियों को चाहता है। आज के तर्क-प्रधान मनुष्य को सुख और शान्ति के नाम पर बहलाया नहीं जा सकता, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज हम अध्यात्म के अभाव में नये जीवन-मूल्यों का सृजन नहीं कर पा रहे हैं। आज विज्ञान का युग है। आज उस धर्म को जो, पारलौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण कर रहा है, जाना होगा। आज तथाकथित वे धर्म-परम्परायें जो मनुष्य को भविष्य के सुनहले सपने दिखाकर फुसलाया करती थीं अब तर्क की पैनी छेनी के आगे अपने को नहीं बचा सकतीं। अब स्वर्ग में जाने के लिये नहीं जीना है अपितु स्वर्ग को धरती पर लाने के लिये जीना होगा। आज विज्ञान ने हमें वह शक्ति दे दी है, जब स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है। यदि हम इस शक्ति का उपयोग धरती पर स्वर्ग

उतारने के स्थान पर, धरती को नरक बनाने में करेंगे तो इसकी जवाबदेही हम पर ही होगी। आज वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि वे मानव कल्याण में सहभागी बनकर इस धरती को ही स्वर्ग बना सकें। विनोबा जी ने सत्य ही कहा है, "आज विज्ञान का तो विकास हुआ किन्तु वैज्ञानिक उत्पन्न ही नहीं हुआ।" क्योंकि वैज्ञानिक वह है जो निरपेक्ष होता है। आज का वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों के इशारे पर चलने वाला व्यक्ति है। वह पैसे से खरीदा जा सकता है। यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं। यदि विज्ञानी (Scientist) वैज्ञानिक (Scientific) नहीं बना तो विज्ञान मनुष्य के लिए घातक ही सिद्ध होगा। आज विज्ञान का उपयोग कैसे किया जाय, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं, अध्यात्म के पास है। विनोबा जी लिखते हैं कि आज युग की माँग से विज्ञान की जितनी ही शक्ति बढ़ेगी, आत्म-ज्ञान को उतनी ही शक्ति बढ़ानी होगी। आज अमेरिका इसलिये दु:खी है कि वहाँ विज्ञान तो है, पर अध्यात्म नहीं है, अतः वहाँ सुख तो है शान्ति नहीं। इसके विपरीत भारत में आध्यात्मिक विरासत के कारण मानसिक शान्ति तो है, किन्तु समृद्धि नहीं। आज जहाँ समृद्धि है वहाँ शान्ति नहीं और जहाँ शान्ति है वहाँ समृद्धि नहीं। इसका समाधान अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में निहित है। अध्यात्म शान्ति देगा तो विज्ञान समृद्धि। जब समृद्धि और शान्ति दोनों एक साथ उपस्थित होगी तभी मानवता अपने विकास के चरम शिखर पर होगी, मानव स्वयं अतिमानव के रूप में विकसित हो जायगा। किन्तु इसके लिए प्रयत्न करना होगा। बिना अडिग आस्था और सतत पुरुषार्थ के यह सम्भव नहीं।

आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधा और समृद्धि तो प्रदान कर दी है फिर भी मनुष्य भय और तनाव की स्थिति में जी रहा है। उसे आन्तरिक शान्ति उपलब्ध नहीं है, उसकी समाधि भंग हो चुकी है। यदि विज्ञान के माध्यम से कोई शान्ति आ सकती है तो वह केवल श्मशान की शान्ति ही होगी। बाहरी साधनों से न कभी आन्तरिक शान्ति मिली है न उसका मिलना सम्भव ही है। इस सन्दर्भ में उपनिषदों का एक प्रसंग याद आ रहा है। नारद जीवन भर वेद-वेदांग का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अनेक विद्याएँ (भौतिक विद्याएँ) प्राप्त कर लीं किन्तु उनके मन को कहीं सन्तोष नहीं मिला। वे सनत्कुमार के पास आए और कहने लगे — मैंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। मैं शास्त्रविद् तो हूँ किन्तु आत्मविद् नहीं।[७] आज के वैज्ञानिक भी नारद की भाँति ही हैं। वे शास्त्रविद् तो हैं किन्तु आत्मविद् नहीं। आत्मविद् हुए बिना शान्ति को नहीं पाया जा सकता। यद्यपि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को

तिलांजलि दे दें। वैज्ञानिक उपलब्धियों का परित्याग न तो सम्भव ही है और न ही औचित्यपूर्ण, किन्तु अध्यात्म या मानवीय विवेक को इनका अनुशासक होना चाहिये। अध्यात्म ही विज्ञान का अनुशासक हो, तभी एक समग्रता या पूर्णता आएगी और मनुष्य एक साथ समृद्धि और शान्ति को पा सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में जिसे हम पदार्थ-ज्ञान या विज्ञान कहते हैं उसे अविद्या कहा गया है और जिसे हम अध्यात्म कहते हैं उसे विद्या कहा गया है। उपनिषद्कार दोनों के सम्बन्ध को उचित बताते हुए उसका स्वरूप कहता है। वह कहता है कि जो पदार्थ विज्ञान या अविद्या की उपासना करता है, वह अन्धकार (तमस्) में प्रवेश करता है क्योंकि विज्ञान या पदार्थ विज्ञान अन्धा है किन्तु साथ ही वह यह भी चेतावनी देता है कि जो केवल विद्या में रत हैं वे उससे अधिक अन्धकार में चले जाते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते ततो य उ विद्यायां रताः ।। ९ ।।

ईशावास्योपनिषद्

वस्तुतः वह जो अविद्या और विद्या दोनों की एक साथ उपासना करता है वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करता है अर्थात् वह सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाता है और विद्या द्वारा अमृत प्राप्त करता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। ११ ।।

ईशावास्योपनिषद्

वस्तुतः यह अमृत आत्म-शान्ति या आत्मतोष ही है। जब विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा तभी मानवता का कल्याण होगा। विज्ञान जीवन के कष्टों को समाप्त कर देगा और अध्यात्म आन्तरिक शान्ति को प्रदान करेगा। आचारांग में महावीर ने अध्यात्म के लिए 'अज्झत्थ' शब्द का प्रयोग किया है और यह बताया है कि इसी के द्वारा आत्म-विशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्म कुछ नहीं है वह आत्म-उपलब्धि या आत्म-विशुद्धि की ही एक प्रक्रिया है। उसका प्रारम्भ आत्मज्ञान से है और उसकी परिनिष्पत्ति आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा में है। वस्तुतः आज जितनी मात्रा में पदार्थ विज्ञान विकसित हुआ है उतनी ही मात्रा में आत्मज्ञान को विकसित होना चाहिए। विज्ञान की दौड़ में अध्यात्म पीछे रह गया है। पदार्थ को जानने के प्रयत्नों में हम अपने को भुला बैठे हैं। मेरी दृष्टि में आत्मज्ञान कोई अमूर्त, तात्त्विक आत्मा की खोज नहीं है, वह अपने आपको जानना है। अपने आपको जानने का तात्पर्य अपने में निहित वासनाओं और विकारों को देखना है। आत्मज्ञान का अर्थ होता है कि हम

यह देखें कि हमारे जीवन में कहाँ अहंकार छिपा पड़ा है, कहाँ और किसके प्रति घृणा और विद्वेष के तत्त्व पल रहे हैं। वस्तुतः आत्मज्ञान, अपने अन्दर झाँककर अपनी वृत्तियों और वासनाओं को पढ़ने की कला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त तकनीक के सहारे हम पदार्थों का परिशोधन करना तो सीख गये और परिशोधन से कितनी शक्ति प्राप्त होती है यह भी जान गए, किन्तु आत्मा के परिशोधन की जो कला अध्यात्म के नाम से हमारे ऋषि-मुनियों ने दी थी, आज हम उसे भूल चुके हैं।

फिर भी विज्ञान ने आज हमारी सुख-सुविधा प्रदान करने के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा उपकार किया वह यह कि धर्मवाद के नाम पर जो अन्ध श्रद्धा और अन्धविश्वास पल रहे थे, उन्हें तोड़ दिया है। इसका टूटना आवश्यक भी था क्योंकि लोरी सुनाकर मनुष्य समाज को अधिक समय तक भ्रम में रखना सम्भव नहीं था। विज्ञान ने अच्छा ही किया कि हमारा यह भ्रम तोड़ दिया किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भ्रम का टूटना ही पर्याप्त नहीं है। इससे जो रिक्तता पैदा हुई उसे आध्यात्मिक मूल्य-निष्ठा के द्वारा ही भरना होगा। यह आध्यात्मिक मूल्य निष्ठा उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा है जो जीवन को शान्ति और आत्मसन्तोष प्रदान करते हैं।

अध्यात्म और विज्ञान का संघर्ष वस्तुतः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है। अध्यात्म की शिक्षा यही है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आत्मिक मूल्यों से परे सामाजिकता और मानवता के उच्च मूल्य भी हैं। महावीर की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को ही परममूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। अतः भौतिकवादी सुखों की लालसा में वह वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है जिससे वह स्वयं तो सन्त्रस्त होता ही है साथ ही साथ समाज को भी सन्त्रस्त बना देता है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख दुःख आत्म-केन्द्रित हैं। आत्मा या व्यक्ति ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है।[८] वस्तुतः आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों में न होकर सद्गुणों में स्थित आत्मा में होती है। अध्यात्मवाद के अनुसार देहादि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का विसर्जन साधना का मूल उत्स है। ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन ही जीवन का परममूल्य है। जैसे ही ममत्व का विसर्जन होगा समत्व का सृजन होगा और समत्व का सृजन

होगा तो शोषण और संग्रह की सामाजिक बुराइयाँ समाप्त होंगी। परिणामत: व्यक्ति आत्मिक शान्ति का अनुभव करेगा। अध्यात्मवादी समाज में विज्ञान तो रहेगा किन्तु उसका उपयोग संहार में न होकर सृजन में होगा, मानवता के कल्याण में होगा।

अन्त में पुन: मैं यही कहना चाहूँगा कि विज्ञान के कारण जो एक संत्रास की स्थिति मानव-समाज में दिखाई दे रही है उसका मूलभूत कारण विज्ञान नहीं अपितु व्यक्ति की संकुचित और स्वार्थवादी दृष्टि ही है। विज्ञान तो निरपेक्ष है। वह न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है और इस उपयोग का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार की वस्तु है। अत: आज विज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने की। यह सम्यक् दिशा अन्य कुछ नहीं, सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की व्यापक आकांक्षा ही है और इस आकांक्षा की पूर्ति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में ही है। काश, मानवता इन दोनों में समन्वय कर सके, यही कामना है।

सन्दर्भ

१. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। आचारांग १/५/५.
२. आचारांग, १/१/१.
३. आत्मज्ञान और विज्ञान (विनोबा).
४. वही.
५. वही.
६. आचारांग १/३/४.
७. छान्दोग्योपनिषद् ७/३.
८. अप्पा खलु मित्तं अमित्तं च सुपट्ठिओ दुपट्ठिओ। उत्तराध्ययन २०/३७

●

जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म का पारस्परिक प्रभाव

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसकी संरचना में वैदिक-धारा और श्रमणधारा का महत्त्वपूर्ण अवदान है। वैदिकधारा मूलत: प्रवृत्तिप्रधान और श्रमणधारा निवृत्तिप्रधान रही है। वैदिकधारा का प्रतिनिधित्व वर्तमान में हिन्दूधर्म करता है जबकि श्रमणधारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध धर्म करते हैं। किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्तमान हिन्दूधर्म अपने शुद्ध रूप में मात्र वैदिक परम्परा का अनुयायी है। आज उसने श्रमणधारा के अनेक तत्त्वों को अपने में समाविष्ट कर लिया है। अत: वर्तमान हिन्दूधर्म वैदिकधारा और श्रमणधारा का एक समन्वित रूप है और उसमें इन दोनों परम्पराओं के तत्त्व सन्निहित हैं। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नहीं होगा कि जैनधर्म और बौद्धधर्म मूलत: श्रमण-परम्परा के धर्म होते हुए भी वैदिकधारा या हिन्दूधर्म से पूर्णत: अप्रभावित रहे हैं। इन दोनों धर्मों ने भी वैदिकधारा के विकसित धर्म से कालक्रम में बहुत कुछ ग्रहण किया है।

यह सत्य है कि हिन्दूधर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा है। उसमें भी यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड की प्रधानता है, फिर भी उसमें संन्यास, मोक्ष और वैराग्य का अभाव नहीं है। अध्यात्म, संन्यास और वैराग्य के तत्त्वों को उसने श्रमण-परम्परा से न केवल ग्रहण किया है अपितु उन्हें आत्मसात भी कर लिया है। यद्यपि वेदकाल के प्रारम्भ में ये तत्त्व उसमें पूर्णत: अनुपस्थित थे किन्तु औपनिषदिक काल में उसमें श्रमण-परम्परा के इन अनेक तत्त्वों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ईशावास्योप-निषद् सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास है। आज हिन्दू-धर्म में संन्यास, वैराग्य, तप-त्याग, ध्यान और मोक्ष की अवधारणाएँ विकसित हुई हैं। वे सभी इस तथ्य का प्रमाण हैं कि वर्तमान हिन्दूधर्म ने भारत की श्रमण-धारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उपनिषद् वैदिक और श्रमणधारा के समन्वय-स्थल हैं — उनमें वैदिक हिन्दू एक नया स्वरूप लेता प्रतीत होता है।

इसी प्रकार श्रमणधारा ने भी चाहे-अनचाहे वैदिकधारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। श्रमणधारा में कर्मकाण्ड और पूजा-पद्धति तो वैदिकधारा से आयी ही है, अपितु अनेक हिन्दू देवी-देवता भी श्रमण-परम्परा में मान्य कर लिये गए

हैं। भारतीय संस्कृति की ये विभिन्न धाराएँ किस रूप में एक-दूसरे से समन्वित हुई हैं, इसकी चर्चा करने के पूर्व हमें यह देखना होगा कि इन दोनों धाराओं का स्वतन्त्र विकास किन मनोवैज्ञानिक और पारिस्थितिक कारणों से हुआ है, तथा क्यों और कैसे इनका परस्पर समन्वय हुआ ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का उद्भव

मानव-अस्तित्व द्वि-आयामी एवं विरोधाभास पूर्ण है। यह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और वहाँ उन पर यान्त्रिक नियमों का आधिपत्य है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसमें संकल्प-स्वातन्त्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। मनोविज्ञान की भाषा में जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं (Id) से अनुशासित है तो दूसरी ओर आदर्शात्मा (Super Ego) से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं उसकी शारीरिक माँगों की अभिव्यक्ति का प्रयास है तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक स्वभाव है, उसका निज स्वरूप है। जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल चैतसिक समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा असम्भव है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच के सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्तमान अस्तित्व के ये दो छोर हैं। उसकी जीवन-धारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है।

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक कारण

मानव-जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम' या विराग की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवनदृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होते हैं तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण-परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या-दृष्टि और दूसरी को सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा गया है। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये भोग और

भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिये कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन-दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है। इसी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से तप-मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा, अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य-सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख-सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। पुनः आनुभविक जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसके सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं एवं उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं, तो वह इन्हें प्रसन्न करने के लिये एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ — १. श्रद्धाप्रधान भक्ति-मार्ग और २. यज्ञ-याग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था। अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि-कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्यमूलक तप-मार्ग का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर उस ऐकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान-मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया — १. ज्ञान-मार्ग और २. तप-मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है —
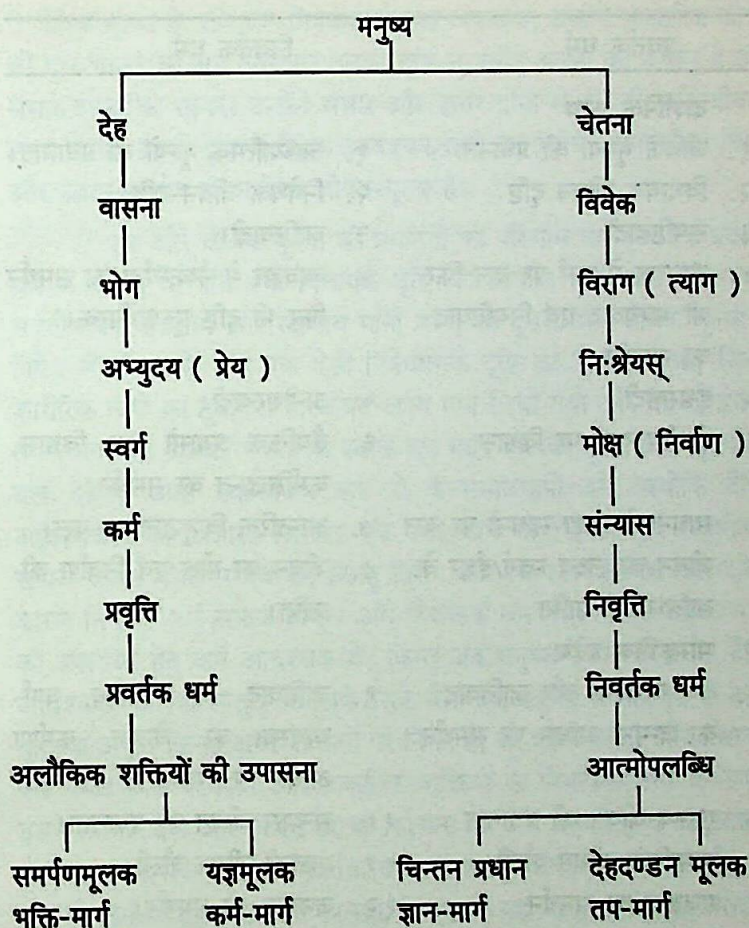
निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का यह विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को अगली सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है —

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
दार्शनिक प्रदेय	
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता।
२. विधायक जीवन दृष्टि	२. निषेधक जीवन-दृष्टि।
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी।
४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन	४. व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर भी दृष्टि पुरुषार्थपरक।
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी।
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्मसिद्धान्त का समर्थन।
७. साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	८. जीवन का मोक्ष/एवं निर्वाण की प्राप्ति।
सांस्कृतिक प्रदेय	
९. वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	९. जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
१०. गृहस्थ-जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास जीवन की प्रधानता।
११. सामाजिक जीवन शैली।	११. एकाकी जीवन शैली।
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन।
१३. शक्तिशाली की पूजा	१३. सदाचारी की पूजा।
१४. विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	१४. ध्यान और तप की प्रधानता।
१५. ब्राह्मण-संस्था (पुरोहित-वर्ग) का विकास	१५. श्रमण-संस्था का विकास।
१६. उपासना-मूलक	१६. समाधि-मूलक।

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ — हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म

ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन-मूल्य हैं।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ, जिसमें शारीरिक माँगों का ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देते हैं अतः स्वाभाविक रूप से वे समाजगामी बने, क्योंकि दैहिक आवश्यकता की जिज्ञासा जिसका एक अंग काम भी है, की पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज-जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज-विमुख और वैयक्तिक बन गए। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे, किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद भी उनकी पूर्ति या अपूर्ति किन्ही अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह देववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व-व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रक तत्त्व के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्म्यता के समर्थक होते हुए भी कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगे। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म-सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्म में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ, वहीं निवर्तक धर्मों ने चित्त-शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं दैवीय शक्तियों के निमित्त कर्म-काण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

सांस्कृतिक प्रदेयों की दृष्टि से प्रवर्तक धर्म वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) के प्रमुख समर्थक रहे। ब्राह्मण वर्ग मनुष्य और ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करने लगा तथा उसने अपनी आजीविका को सुरक्षित बनाए

रखने के लिये एक ओर समाज-जीवन में अपने वर्चस्व को स्थापित रखना चाहा, तो दूसरी ओर धर्म को कर्मकाण्ड और जटिल विधि-विधानों की औपचारिकता में उलझा दिया। परिणास्वरूप ऊँच-नीच का भेद-भाव, जातिवाद और कर्मकाण्ड का विकास हुआ। किन्तु उसके विपरीत निवर्तक धर्म ने संयम, ध्यान और तप की एक सरल साधना-पद्धति का विकास किया और वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण-संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। उनमें ब्राह्मण-संस्था के स्थान पर श्रमण-संघों का विकास हुआ, जिसमें सभी जाति और वर्ग के लोगों को समान स्थान मिला। राज्य संस्था की दृष्टि से जहाँ प्रवर्तक धर्म राजतंत्र और अन्याय के प्रतिकार के हेतु संघर्ष की नीति के समर्थक रहे, वहाँ निवर्तक धर्म जनतन्त्र और आत्मोत्सर्ग के समर्थक रहे।

संस्कृतियों के समन्वय की यात्रा

यद्यपि उपरोक्त आधार पर हम प्रवर्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्तक धर्म अर्थात् श्रमण-परम्परा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रदेयों को समझ सकते हैं किन्तु यह मानना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा कि आज वैदिकधारा और श्रमणधारा ने अपने इस मूल स्वरूप को बनाए रखा है। एक ही देश और परिवेश में रहकर दोनों ही धाराओं के लिये यह असम्भव था कि वे एक-दूसरे के प्रभाव से अछूती रहें। अत: जहाँ वैदिकधारा में श्रमणधारा (निवर्तक धर्म-परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, वहाँ श्रमणधारा में प्रवर्तक धर्म-परम्परा के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। अत: आज के युग में कोई धर्म-परम्परा न तो ऐकान्तिक निवृत्तिमार्ग की पोषक है और न ऐकान्तिक प्रवृत्ति-मार्ग की।

वस्तुत: निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में ऐकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक जीवन जीती है, तब तक ऐकान्तिक प्रवृत्ति और ऐकान्तिक निवृत्ति की बात करना एक मृग-मरीचिका में जीना होगा। वस्तुत: आवश्यकता इस बात की रही है कि हम वास्तविकता को समझें और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के तत्त्वों में समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन-शैली खोजें, जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिये कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनित मानसिक एवं सामाजिक सन्त्रास के मुक्ति दिला सके। इस प्रकार इन दो भिन्न संस्कृतियों में पारस्परिक समन्वय आवश्यक था।

भारत में प्राचीन काल से ही ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। प्रवर्तक धारा के प्रतिनिधि हिन्दूधर्म में समन्वय के सबसे अच्छे उदाहरण ईशावास्योपनिषद् और

भगवद्गीता हैं। भगवद्गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के समन्वय का स्तुत्य प्रयास हुआ है। इसी प्रकार श्रमण-धारा में भी परवर्ती काल में प्रवर्तक धर्म के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। श्रमण-परम्परा की एक अन्य धारा के रूप में विकसित बौद्ध धर्म में तो प्रवर्तक धारा के तत्त्वों का इतना अधिक प्रवेश हुआ कि महायान से तन्त्रयान की यात्रा तक वह अपने मूल स्वरूप से काफी दूर हो गया। भारतीय धर्मों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में हम कालक्रम में हुए इस आदान-प्रदान की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इसी आदान-प्रदान के कारण ये परम्पराएँ एक-दूसरे के काफी निकट आ गई हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चहारदीवारियों में अवरुद्ध कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, जब उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लिया जाय। बिना उसके संयोजित घंटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिये न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है। अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिये कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकती है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देश, काल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकतापूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय विद्या का, हमें उसकी दूसरी परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और यह देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुई है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक प्रभाव के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक संस्कृति का अस्तित्व साथ-साथ पाते हैं, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब इन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ये दोनों धाराएँ परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग-अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक क्रिया-काण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि जो जैन परम्परा में तीर्थङ्कर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही हैं। हिंन्दूधर्म की शैव धारा और सांख्य-योग आदि की परम्पराएँ मूलत: निवर्तक या श्रमण रही हैं, जो कालक्रम में बृहद् हिन्दूधर्म में आत्मसात् कर ली गई हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है, उससे सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी, जिसमें ध्यान आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा यज्ञशाला आदि का न मिलना यही सिद्ध करता है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान-प्रधान व्रात्य या श्रमण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। यह निश्चित है कि आर्यों के आगमन के साथ प्रारम्भ हुए वैदिक युग से ये दोनों ही धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक-दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी कियां है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार भाव था, वह अथर्ववेद में समादर भाव में बदल जाता है, जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणाएँ, जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थीं, वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से उपनिषदों में अस्तित्व में आ गयी हैं। इससे लगता है कि ये अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिक धारा में प्रविष्ट हुई हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नए

रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति, यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ वैदिक एवं श्रमणधारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत, जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे निवृत्तिप्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिकधारा के समन्वय का परिणाम हैं। उपनिषदों में, महाभारत और गीता में जहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्ति-प्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की श्रमण-परम्परा के समान आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं, उसमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा आज का हिन्दूधर्म वैदिक और श्रमणधाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में, जो आवाज औपनिषदिक युग के ऋषि-मुनियों ने उठाई थी, जैन और अन्य श्रमण परम्पराओं ने मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई तो वे औपनिषदिक ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकाएँ अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यह आदि वैदिक कर्मकाण्डों की नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। महावीर एवं बुद्धकालीन जैन और बौद्ध परम्पराएँ तो औपनिषदिक ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गए पथ पर गतिशील हुई हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषदिक ऋषियों के स्वर का ही मुखरित रूप हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषदिक ऋषियों की अर्हत् ऋषियों के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्ण-व्यवस्था और वेदों के प्रामाण्य से इन्कार किया और इस प्रकार वे भारतीय संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय संस्कृति में आई इन विकृतियों के परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं न कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड अब पूजा-विधानों एवं तन्त्र-साधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और अन्य श्रमण-परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया है और उनकी साधना-पद्धति का एक अंग बन गया है। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा है। जहाँ एक ओर भारतीय श्रमण-परम्परा ने वैदिक

परम्परा को आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के साथ-साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणाएँ प्रदान कीं, वहीं दूसरी ओर इसकी तीसरी चौथी-शती से वैदिक परम्परा के प्रभाव से पूजा-विधान और तान्त्रिक साधनाएँ जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रविष्ट हो गईं। अनेक हिन्दू देव-देवियाँ प्रकारान्तर से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर ली गईं। जैनधर्म में यक्ष-यक्षिणियों एवं शासन-देवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू देवियाँ जैसे — काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती, सिद्धायिका तीर्थङ्करों की शासन-रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म का अंग बन गईं। इसी प्रकार श्रुत-देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी की उपासना भी जैनधर्म में होने लगी और हिन्दू-परम्परा का गणेश पार्श्व-यक्ष के रूप में लोक-मंगल का देवता बन गया। वैदिक परम्परा के प्रभाव से जैन मन्दिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा-विधान में हिन्दू देवताओं की तरह तीर्थङ्करों का भी आवाहन एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजा-विधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इस सबकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर पूजा-विधि-विधान प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहाँ हिन्दू परम्पराओं में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन परम्परा में राम और कृष्ण को शलाका पुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार दोनों धाराएँ एक दूसरे से समन्वित हुईं।

आज हमें उनकी इस पारस्परिक प्रभावशीलता को तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिये, ताकि धर्मों के बीच जो दूरियाँ पैदा कर दी गयी हैं, उन्हें समाप्त किया जा सके और उनकी निकटता को भी सम्यक् रूप से समझा जा सके।

दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्खों — जो कि बृहद् भारतीय परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाइयाँ खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता रहा है कि जैन और बौद्ध धर्म न केवल स्वतन्त्र धर्म हैं, अपितु वे वैदिक हिन्दू-परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह के रूप में चित्रित किया जाता है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण-परम्पराओं में कुछ मूल-भूत प्रश्नों को लेकर स्पष्ट मतभेद है। यह भी सत्य है कि जैन-बौद्ध परम्परा

ने वैदिक परम्परा की उन विकृतियों का जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध किया, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में ही समझना होगा। जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि चिकित्सक कभी भी शत्रु नहीं होता, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य चिन्तकों के प्रभाव से भारतीय चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन और बौद्ध चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैनधर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। चाहे अपने मूल रूप में वैदिक एवं श्रमण संस्कृति प्रवर्तक और निवर्तक धर्म-परम्पराओं के रूप में भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु आज न तो हिन्दू-परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णतः वैदिक है और न ही जैन-बौद्ध परम्परा पूर्णतः श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह बात अलग है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ जैन धर्म आज भी निवृत्ति-प्रधान है वहाँ हिन्दू धर्म प्रवृत्ति-प्रधान। फिर भी यह मानना उचित होगा कि ये दोनों धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय से ही निर्मित हुए हैं।

हम पूर्व में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अतः आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन और बौद्ध परम्परा को भी औपनिषदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, प्रेय और श्रेय, परस्पर भिन्न-भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं उसी प्रकार निवृत्ति-प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्ति-प्रधान वैदिकधारा दोनों भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुतः कोई भी संस्कृति ऐकान्तिक निवृत्ति या ऐकान्तिक प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भारतीय संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे हिन्दू-परम्परा। यदि औपनिषदिक धारा को वैदिक धारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू-परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है तो फिर जैन और बौद्ध परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता। यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी अभी तक हिन्दू-धर्म-दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा

सकता है? वस्तुतः हिन्दू-परम्परा कोई एक धर्म और दर्शन न होकर व्यापक परम्परा का नाम है या कहें कि वह अभिन्न वैचारिक एवं साधनात्मक परम्पराओं का समूह है। उसमें ईश्वरवाद-अनीश्वरवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म सभी कुछ तो समाहित हैं। उसमें प्रकृति-पूजा जैसे धर्म के प्रारम्भिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ तो उसमें सन्निविष्ट हैं। अतः हिन्दू उसी अर्थ में कोई एक धर्म नहीं है जैसे यहूदी, ईसाई या मुसलमान। हिन्दू एक संश्लिष्ट परम्परा है, एक सांस्कृतिक धारा है जिसमें अनेक धाराएँ समाहित हैं।

अतः जैन और बौद्ध धर्म को हिन्दू-परम्परा से नितान्त भिन्न नहीं माना जा सकता। जैन और बौद्ध भी उसी अध्यात्म-पथ के अनुयायी हैं, जिसके औपनिषदिक ऋषि। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के दलित वर्ग के उत्थान तथा जन्मना जातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने उस धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्‌गुणों पर अधिष्ठित किया गया था। उन्होंने भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के धार्मिक शोषण से मुक्त किया। वे विदेशी नहीं हैं, इसी माटी की सन्तान हैं, वे शत-प्रतिशत भारतीय हैं। जैन, बौद्ध और औपनिषदिक धारा किसी एक ही मूल स्रोत के विकास हैं और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

भारतीय धर्मों, विशेषरूप से औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है, उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा —आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन आदि हमारे दिशा-निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जाएगा कि जैनधर्म, बौद्धधर्म और हिन्दू-धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं। आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने भाव, शब्द-योजना और भाषा-शैली की दृष्टि से औपनिषदिक सूत्रों के निकट हैं। आचारांग में आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह माण्डूक्योपनिषद् से यथावत् मिलता है। आचारांग में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्द्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में ही मिलता है। चाहे आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैनागम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे। उनकी

दृष्टि में ब्राह्मण वह है जो सदाचार का जीवन्त प्रतीक है। उसमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (समणा-माहणा) का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है किन्तु उसके साथ ही उसमें औपनिषदिक युग के अनेक ऋषियों यथा — विदेहनमि, बाहुक, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादर-पूर्वक उल्लेख हुआ है। सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि इन ऋषियों के आचार-नियम उसकी आचार-परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत् परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है। वह उनका महापुरुष और तपोधन के रूप में उल्लेख करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। सूत्रकृतांग की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचार-मार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे। सूत्रकृतांग में इन ऋषियों को महापुरुष, तपोधन एवं सिद्धि-प्राप्त कहना तथा उत्तराध्ययन में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा अत्यन्त उदार थी और वह मानती थी कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार-नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, अपितु भिन्न आचार-मार्ग का पालन करने वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है।

इसी सन्दर्भ में यहाँ ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई० पू० चौथी शती) है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा जब जैन धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगिरस, पाराशर, अरुण, नारायण, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप, मंखलिगोशाल, संजय (वेलिट्ठिपुत्त) आदि पैंतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हत्-ऋषि, बुद्ध-ऋषि या ब्राह्मण-ऋषि कहा गया है। ऋषिभाषित में इनके आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है। जैन-परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा और जैन-परम्परा का उद्गम स्रोत एक ही है। यह ग्रन्थ न केवल जैन धर्म की धार्मिक उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है। औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धाराएँ हैं। जिस प्रकार जैन धर्म के ऋषिभाषित में विभिन्न परम्पराओं के उपदेश संकलित हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा की थेरगाथा में भी विभिन्न परम्पराओं के

जिन-स्थविरों के उपदेश संकलित हैं। उसमें भी अनेक औपनिषदिक एवं अन्य श्रमण-परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं, जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी हैं। यह सब इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय चिन्तन-धारा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों में जकड़कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं, इन धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन हमें एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन की इन धाराओं को एक दूसरे से अलग कर देखने का प्रयत्न किया जायगा तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और आचारांग को समझने के लिये औपनिषदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध साहित्य को भी जैन परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। आज साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है और भारतीय धर्मों की पारस्परिक प्रभावशीलता को स्पष्ट कर सकता है।

जैन धर्म का हिन्दू धर्म को अवदान

औपनिषदिक काल या महावीर-युग की सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि उस युग में अनेक परम्पराएँ अपने एकांगी दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य समझकर परस्पर एक-दूसरे के विरोध में खड़ी थीं। उस युग में चार प्रमुख वर्ग थे — १. क्रियावादी, २. अक्रियावादी, ३. विनयवादी और ४. अज्ञानवादी। महावीर ने सर्वप्रथम उनमें समन्वय करने का प्रयास किया। प्रथम, क्रियावादी दृष्टिकोण आचार के बाह्य पक्षों पर अधिक बल देता था। वह कर्मकाण्डपरक था। बौद्ध परम्परा में इस धारणा को शीलव्रतपरामर्श कहा गया है। दूसरा दृष्टिकोण अक्रियावाद का था। अक्रियावाद के तात्त्विक आधार या तो विभिन्न नियतिवादी दृष्टिकोण थे या आत्मा को कूटस्थ एवं अकर्ता मानने की तात्त्विक अवधारणा के पोषक थे। ये परम्पराएँ ज्ञानमार्ग की प्रतिपादक थीं। जहाँ क्रियावाद के अनुसार कर्म या आचरण ही साधना का सर्वस्व था, वहाँ अक्रियावाद के अनुसार ज्ञान ही साधना का सर्वस्व था। क्रियावाद कर्ममार्ग का प्रतिपादक था और अक्रियावाद ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त तीसरी परम्परा अज्ञानवादियों की थी जो अतीन्द्रिय एवं पारलौकिक मान्यताओं को 'अज्ञेय' स्वीकार करती थी। इसका दर्शन रहस्यवाद और सन्देहवाद इन दो रूपों में विभाजित था। इन तीनों परम्पराओं के अतिरिक्त चौथी परम्परा विनयवाद की थी,

जिसे भक्तिमार्ग का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। विनयवाद भक्तिमार्ग का ही अपरनाम था। इस प्रकार उस युग में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और अज्ञेयवाद (सन्देहवाद) की परम्पराएँ अलग-अलग रूप में प्रतिष्ठित थीं। महावीर ने अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के आधार इनमें समन्वय खोजने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र के रूप में त्रिविध मोक्षमार्ग का एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें ज्ञानवादी, कर्मवादी और भक्तिमार्गी परम्पराओं का समुचित समन्वय था। इस प्रकार महावीर एवं जैन-दर्शन का प्रथम प्रयास ज्ञानमार्गीय, कर्ममार्गीय, विभिन्न भक्तिमार्गी, तापस आदि एकांगी दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करना था। यद्यपि गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की चर्चा हुई है, किन्तु वहाँ इनमें से प्रत्येक को मोक्ष-मार्ग मान लिया गया है।

जैनधर्म ने न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग की परम्परा का विरोध किया, वरन् श्रमण-परम्परा के देह-दण्डन की तपस्यात्मक प्रणाली का भी विरोध किया। सम्भवतः महावीर के पूर्व पार्श्व के काल तक धर्म का सम्बन्ध बाह्य तथ्यों से ही जोड़ा गया था। यही कारण था कि जहाँ ब्राह्मण-वर्ग यज्ञ-याग के क्रियाकाण्डों में धर्म की इतिश्री मान लेता था, वहाँ श्रमण-वर्ग भी विविध प्रकार के देह-दण्डन में ही धर्म की इतिश्री मान लेता था। सम्भवतः जैन परम्परा के महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने आध्यात्मिक साधना के बाह्य पहलू के स्थान पर उसके आन्तरिक पहलू पर बल दिया था और परिणामस्वरूप श्रमण-परम्पराओं में भी बौद्ध आदि कुछ धर्म-परम्पराओं ने इस आन्तरिक पहलू पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन महावीर के युग तक धर्म एवं साधना का यह बाह्यमुखी दृष्टिकोण पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था, वरन् ब्राह्मण परम्परा में तो यज्ञ श्रद्धादि के रूप में वह अधिक प्रसार पा गया था। दूसरी ओर जिन विचारकों ने साधना के आन्तरिक पक्ष पर बल देना प्रारम्भ किया था, उन्होंने उसके बाह्य पक्ष की पूरी तरह अवहेलना करना प्रारम्भ कर दिया था, परिणामस्वरूप वे भी एक अति की ओर जाकर एकांगी बन गए। अतः महावीर ने दोनों ही पक्षों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह बताया कि धर्म-साधना का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है। उसमें आचरण के बाह्य पक्ष के रूप में क्रिया का जो स्थान है, उससे भी अधिक स्थान आचरण के आन्तरिक प्रेरक का है। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम दोनों पर ही बल दिया। उन्होंने ज्ञान और क्रिया के बीच समन्वय स्थापित किया। नरसिंहपुराण (६१/९/११) में भी आवश्यक निर्युक्ति (तीसरी शती

९५-९७) के समान ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय को अनेक रूपकों से वर्णित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन-परम्परा के इस चिन्तन ने हिन्दू-परम्परा को प्रभावित किया है।

मानव मात्र की समानता का उद्घोष

उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार कर्म और स्वभाव को छोड़ जन्म मान लिया गया था। परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी और ऊँच-नीच का भेद हो गया था, जिसके कारण सामाजिक स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन विचारधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और समस्त मानवों की समानता का उद्घोष किया। एक ओर उसने हरिकेशी बल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को, तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना-मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। केवल जातिगत विभेद ही नहीं वरन् आर्थिक विभेद भी समानता की दृष्टि से जैन विचारधारा के सामने कोई मूल्य नहीं रखता। जहाँ एक ओर मगध-सम्राट तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक भी उसकी दृष्टि में समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत या आर्थिक आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया। इसका प्रभाव हिन्दूधर्म पर भी पड़ा और उसमें भी गुप्तकाल के पश्चात् भक्तियुग में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता का विरोध हुआ। वैसे तो महाभारत के रचनाकाल (लगभग चौथी शती) से ही यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

ईश्वर से मुक्ति और मानव की स्वतन्त्रता का उद्घोष

उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतन्त्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि में कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी धारणाएँ तो दूसरी ओर कालवादी एवं नियतिवादी धारणाएँ मानवीय स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थीं। जैन-दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानवीय स्वतन्त्रता की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ मानव की निर्धारक हैं, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई जो मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही थी और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा ही धर्म-दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है। जैनों की इस अवधारणा का प्रभाव हिन्दूधर्म पर उतना अधिक नहीं पड़ा, जितना अपेक्षित था। फिर भी ईश्वरवाद की स्वीकृति के साथ-साथ मानव की श्रेष्ठता के स्वर तो मुखरित हुए ही थे।

रूढ़िवाद से मुक्ति

जैन धर्म ने रूढ़िवाद से भी मानव-जाति को मुक्त किया। उसने उस युग की अनेक रूढ़ियों जैसे — पशु-यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहितवाद आदि से मानव-समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसलिये इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण-वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक शोषण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था, उसे समाप्त करने के लिये जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने प्रयास किया। जैन और बौद्ध आचार्यों ने सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने यज्ञादि प्रत्ययों को नई परिभाषाएँ प्रदान कीं। यहाँ जैनधर्म के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ दी जा रही हैं।

ब्राह्मण का नया अर्थ

जैन-परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना और उसे ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्याय एवं धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल एक दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि 'जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में उत्पन्न होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वही सच्चा ब्राह्मण है'।[१] जो राग, द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है। धम्मपद में भी कहा है कि जैसे कमलपत्र पानी से अलिप्त होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त हैं, जो मेधावी हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल हैं और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुके हैं — उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो श्रमण परम्परा के अनुकूल थी। फलतः न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में, वरन् हिन्दू परम्परा के महान् ग्रन्थ महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा दी गई है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र, बौद्ध परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी बहुत अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है और इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव को स्पष्ट करता है।

यज्ञ का नया अर्थ

जिस प्रकार ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की गई उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नए अर्थ में परिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया, वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की। उत्तराध्ययन में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। बताया गया है कि "तप अग्नि है; जीवात्मा अग्निकुण्ड है; मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है; यही यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।"[३] फलतः केवल जैन-परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी यज्ञ-याग के बाह्य पक्ष का खण्डन और उसके आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण उपलब्ध होता है। बुद्ध ने भी आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप का चित्रण लगभग उसी रूप में किया है जिस रूप में उसका विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र में किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन करते हुए बुद्ध कहते हैं कि हे ब्राह्मण, ये तीन अग्नियाँ त्याग करने, परिवर्जन करने के योग्य हैं, इनका सेवन नहीं करना चाहिये। वे कौन सी हैं? कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि। जो मनुष्य कामाभिभूत होता है वह काया-वाचा-मनसा कुकर्म करता है और उसके मरणोत्तर दुर्गति पाता है। इसी प्रकार द्वेष एवं मोह से अभिभूत भी काया-वाचा-मनसा कुकर्म करके दुर्गति को पाता है। इसलिये ये तीन अग्नियाँ त्याग करने और परिवर्तन के योग्य हैं, उनका सेवन नहीं करना चाहिये। हे ब्राह्मण, इन तीन अग्नियों का सत्कार करें, इन्हें सम्मान प्रदान करें, इनकी पूजा और परिचर्या भलीभाँति सुख से करें। ये अग्नियाँ कौन सी हैं, आह्वानीयाग्नि (आहनेहय्यग्गि), गार्हपत्याग्नि (गहपत्तग्गि) और दक्षिणाग्नि (दक्खिणाय्यग्गि)। माँ-बाप को आह्वानीयाग्नि समझना चाहिये और सत्कार से उनकी पूजा करनी चाहिये। पत्नी और बच्चे, दास तथा कर्मकार को गार्हपत्याग्नि समझना चाहिये और आदर्शपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। श्रमण-ब्राह्मणों को दक्षिणाग्नि समझना चाहिये और सत्कारपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। हे ब्राह्मण, यह लकड़ियों की अग्नि तो कभी जलानी पड़ती है, कभी उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी उसे बुझाना पड़ता है,[४] किन्तु ये अग्नियाँ तो सदैव और सर्वत्र पूजनीय हैं। इसी प्रकार बुद्ध ने भी हिंसक यज्ञों के स्थान पर यज्ञ के आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को प्रकट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सच्चे यज्ञ का अर्थ सामाजिक जीवन में सहयोग करना बताया।[५] श्रमण-धारा के इस दृष्टिकोण के समान ही उपनिषदों एवं गीता में भी यज्ञ-याग की निन्दा

की गयी है और यज्ञ की सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचना की गई है। सामाजिक सन्दर्भ में यज्ञ का अर्थ समाज-सेवा माना गया है। निष्कामभाव से समाज की सेवा करना गीता में यज्ञ का सामाजिक पहलू था। दूसरी ओर गीता में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन भी किया गया है। गीताकार कहता है कि योगीजन संयमरूप अग्निरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं या इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। दूसरे कुछ साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों को और शरीर के भीतर रहने वाला वायु जो प्राण कहलाता है, उसके 'संकुचित होने', 'फैलने' आदि कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्म-संयमरूप योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मविषयक संयम का नाम आत्म-संयम है, वही यहाँ योगाग्नि है। घृतादि चिकनी वस्तु प्रज्वलित हुई अग्नि की भाँति विवेक-विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई (धारणा-ध्यान समाधि रूप) उस आत्म-संयम-योगाग्नि में (प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को) विलीन कर देते हैं।[६] इस प्रकार जैनधर्म में यज्ञ के जिस आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसका अनुमोदन बौद्ध परम्परा और वैदिक परम्परा में हुआ है। यही श्रमण-परम्परा का हिन्दू-परम्परा को मुख्य अवदान था।

स्नान आदि के प्रति नया दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने अन्य नैतिकता सम्बन्धी विचारों को भी नई दृष्टि प्रदान की। बाह्य शौच या स्नान, जो कि उस समय धर्म और नैतिक जीवन का एक मुख्य रूप मान लिया गया था, को भी एक नया आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया गया। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त, निर्मल और शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ मन, वाणी और काया से सद्गुणों का सम्पादन माना गया है।[७] न केवल जैन और बौद्ध परम्परा में वरन् वैदिक परम्परा में भी यह विचार प्रबल हो गया कि यथार्थ शुद्धि आत्मा के सद्गुणों के विकास में निहित है। इस प्रकार श्रमणों के इस चिन्तन का प्रभाव वैदिक या हिन्दू परम्परा पर भी हुआ।

इसी प्रकार ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति एक नई दृष्टि प्रदान की गई और यह बताया गया कि दान की अपेक्षा, संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रति मास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा भी जो बाह्य रूप से दान नहीं करता, वरन् संयम का पालन करता है, उस व्यक्ति का संयम ही अधिक श्रेष्ठ है।[८] धम्मपद में भी कहा गया है कि एक तरफ मनुष्य यदि वर्षों तक हजारों की दक्षिणा देकर प्रति मास यज्ञ करता जाय और

दूसरी तरफ यदि वह पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे तो यह सेवा कहीं उत्तम है, न कि सौ वर्षों तक किया हुआ यज्ञ।[१] इस प्रकार जैनधर्म ने तत्कालीन कर्मकाण्डी मान्यताओं को एक नई दृष्टि प्रदान की और उन्हें आध्यात्मिक स्वरूप दिया, साथ ही धर्म-साधना का जो बहिर्मुखी दृष्टिकोण था उसे आध्यात्मिक संस्पर्श द्वारा अन्तर्मुखी बनाया। इससे उस युग के वैदिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को रूपान्तरित करने का श्रेय सामान्य रूप से श्रमण-परम्परा के और विशेष रूप से जैन-परम्परा को है।

कर्मकाण्ड और आध्यात्मिक साधनाएँ प्रत्येक धर्म के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्ड उसका शरीर है और आध्यात्मिकता उसका प्राण। भारतीय धर्मों में प्राचीन काल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक-परम्परा धर्म-कर्म-काण्डात्मक अधिक रही है, वहाँ प्राचीन श्रमण-परम्पराएँ साधनात्मक अधिक रही हैं। फिर भी इन दोनों प्रवृत्तियों को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् रख पाना कठिन है। श्रमण-परम्परा में आध्यात्मिक और धार्मिक साधना के जो विधि-विधान बने थे, वे भी धीरे-धीरे कर्मकाण्ड के रूप में ही विकसित होते गये। अनेक आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्यों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि इनमें अधिकांश कर्मकाण्ड वैदिक या ब्राह्मण परम्परा अथवा दूसरी अन्य परम्पराओं के प्रभाव से आये हैं।

जैन-परम्परा मूलतः श्रमण-परम्परा का ही एक अंग है और इसलिये यह अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना प्रधान रही है। मात्र यही नहीं उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन-ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का विरोध भी परिलक्षित होता है। जैसा हम पूर्व में बता चुके हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिक रूप प्रदान किया था। तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग ने यज्ञ, श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने उसका खुला विरोध किया था।

वस्तुतः वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी परम्परा में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजा-विधि का विकास हुआ, तो श्रमण-परम्परा में तपस्या और ध्यान का । जैन समाज में यक्षपूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। जनसाधारण में प्रचलित भक्तिमार्गी धारा का प्रभाव जैन

और बौद्ध धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ-साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामतः प्रथम स्तूप, चैत्य आदि के रूप में प्रतीक पूजा प्रारम्भ हुई फिर सिद्धायतन (जिन-मन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन-प्रतिमा की पूजा होने लगी, परिणामस्वरूप जिन-पूजा, दान, आदि को गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना गया। दिगम्बर परम्परा में तो गृहस्थ के लिये प्राचीन षडावश्यकों के स्थान पर षट् दैनिक कृत्यों — जिनपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान — की कल्पना की गयी। हमें आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि प्राचीन आगमों में जिनपूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इनकी अपेक्षा परवर्ती आगमों —स्थानांग आदि में जिनप्रतिमा एवं जिनमन्दिर (सिद्धायतन) के उल्लेख हैं, किन्तु उनमें पूजा सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है। जबकि राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव और ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी के द्वारा जिनप्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। यह सब बृहद् हिन्दू-परम्परा का जैनधर्म पर प्रभाव है।

द्रव्यपूजा के सम्बन्ध में राजप्रश्नीय में वर्णित सूर्याभदेव द्वारा की जाने वाली पूजा-विधि आज भी उसी रूप में प्रचलित है। उसमें प्रतिमा के प्रमार्जन, स्नान, अंग-प्रोच्छन, गंध-विलेपन, गंध-माल्य, वस्त्र आदि के अर्पण के उल्लेख हैं, किन्तु राजप्रश्नीय में उल्लिखित यह पूजाविधि भी जैन-परम्परा में एकदम विकसित नहीं हुई है। स्तवन से चैत्यवन्दन और चैत्यवन्दन से पुष्प-अर्चा प्रारम्भ हुई होगी। यह भी सम्भव है कि जिनमन्दिरों और जिनबिम्बों के निर्माण के साथ पुष्पपूजा प्रचलित हुई होगी। फिर क्रमशः पूजा की सामग्री में वृद्धि होती गई और अष्टद्रव्यों से पूजा होने लगी। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दों में — "पूजन-सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है। आरम्भ में पूजन-विधि केवल पुष्पों के द्वारा सम्पन्न की जाती थी, फिर क्रमशः धूप, चन्दन और नैवेद्य आदि पूजा-द्रव्यों का विकास हुआ। पद्मपुराण, हरिवंश-पुराण एवं जटासिंहनन्दि के वरांगचरित में हमारे उक्त कथन का सम्यक् समर्थन होता है। वरांगचरित में राजा श्रीकण्ठ कहता है कि मैंने नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गन्ध से भगवान् की पूजा करने का संकल्प किया था, पर वह पूजा न हो सकी।

पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण स्नान कर धौतवस्त्र पहन, स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा, किन्तु उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा-सामग्री में धूप, चन्दन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा

दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बरों की अपेक्षा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में जिनसेन ने जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं और न जल का पृथक् निर्देश ही है। स्मरण रहे कि प्रतिमा-प्रक्षालन की प्रक्रिया का अग्रिम विकास अभिषेक है, जो अपेक्षाकृत और भी परवर्ती है।

पद्मपुराण, पद्मनन्दिकृत पंचविंशति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थों से अष्टद्रव्यों का फलादेश भी ज्ञात होता है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने से ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत यह विवरण हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से दिगम्बर परम्परा में पूजा-द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है। श्वेताम्बर परम्परा में हिन्दुओं की पंचोपचारी पूजा से अष्टप्रकारी पूजा और उसी से सत्रह भेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी या सत्रह भेदी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारी पूजा का ही रूप है और बहुत कुछ रूप में इसका उल्लेख राजप्रश्नीय में उपलब्ध है।

इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैन-परम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या गुण-स्तुति का स्थान या उसी से आगे चलकर भावपूजा प्रचलित हुई और फिर द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई, किन्तु द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिये हुआ। तत्पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में जिनपूजा-सम्बन्धी जटिल विधि-विधानों को जो विस्तार हुआ, वह सब ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव था। आगे चलकर जिनमन्दिर के निर्माण एवं जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में हिन्दुओं का अनुसरण करके अनेक प्रकार के विधि-विधान बने। पं० फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने "ज्ञानपीठ पूजांजलि" की भूमिका में और डॉ० नेमिचंदजी शास्त्री ने, अपने एक लेख 'पुष्पकर्म-देवपूजा : विकास एवं विधि' जो उनकी पुस्तक "भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान" (प्रथम खण्ड), पृ० ३७९ पर प्रकाशित है, में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैन-परम्परा में पूजा-द्रव्यों का क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि पुष्पपूजा प्राचीनकाल से ही प्रचलित है फिर भी यह जैन-परम्परा के आत्यन्तिक अहिंसा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो पूजा-विधान का

पाठ जिसमें होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो और दूसरी ओर पुष्प, जो स्वयं एकेन्द्रिय जीव हैं, उन्हें जिन-प्रतिमा को समर्पित करना कहाँ तक संगतिपूर्ण हो सकता है। वह प्रायश्चित्त पाठ निम्नलिखित है —

ईयापथे प्रचलताद्य मया प्रमादात्,
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा।
निर्वर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे।।

स्मरणीय है कि श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवन्दन में भी 'इरियाविहि विराहनाये' नामक पाठ किया जाता है, जिसका तात्पर्य है 'मैं चैत्यवन्दन के लिये जाने में हुई एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त करता हूँ'। दूसरी ओर पूजा-विधानों में एवं होमों में पृथ्वी, वायु, अप, अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का विधान, एक आन्तरिक असंगति तो है ही। सम्भवत: हिन्दू-धर्म के प्रभाव से ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी तक जैनधर्म में पूजा-प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें से अनेक का मुनियों के लिये निषेध करना पड़ा। हरिभद्र ने सम्बोधप्रकरण में चैत्यों में निवास, जिनप्रतिमा की द्रव्यपूजा, जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैनमुनि के लिये निषेध किया है।[१०]

सामान्यत: जैन-परम्परा में तपप्रधान अनुष्ठानों का सम्बन्ध कर्ममल को दूरकर मनुष्य के आध्यात्मिक गुणों का विकास और पाशविक आवेगों का नियन्त्रण रहा है। जिनभक्ति और जिनपूजा सम्बन्धी अनुष्ठानों का उद्देश्य भी लौकिक उपलब्धियों एवं विघ्न-बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक विकास ही है। जैन साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्व-स्वरूप या जिनगुणों की उपलब्धि के लिये है।

जैन परम्परा का उद्घोष है — 'वन्दे तद्गुण लब्धये' अर्थात् जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्त्वत: समान है, अत: वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है स्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार जैन अनुष्ठान मूलत: आत्मविशुद्धि और स्वरूप की उपलब्धि के लिये है। जैन अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है, उनमें भी अधिकांशत: तो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्मा के लिये पतनकारी प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कराकर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

यद्यपि जैन अनुष्ठानों की मूल प्रकृति अध्यात्मपरक है, किन्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह धर्म के माध्यम से भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि चाहता है, साथ ही उनकी उपलब्धि में बाधक शक्तियों के निवर्तन के लिये भी धर्म से ही अपेक्षा रखता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के शमन का साधन मानता है। मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि हिन्दू धर्म के प्रभाव से जैन परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका, उसमें विकृति आयी। सत्य तो यह है कि जैनधर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य है, जो भौतिक जीवन में सुख-समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है। अत: जैन आचार्यों के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैनधर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिये जैनधर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें जो अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में सहायक हो। निवृत्तिप्रधान, अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिये यह न्यायसंगत तो नहीं था फिर भी यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति विकसित हुई है।

जैनधर्म का तीर्थङ्कर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अत: जैन अनुष्ठानों में जिनपूजा के यक्ष-यक्षियों के रूप में शासनदेवता तथा देवी की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि तीर्थङ्कर की अथवा अपनी उपासना से शासनदेवता (यक्ष-यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का कल्याण करते हैं। शासनरक्षक देवी-देवताओं के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष आदि यक्षों, दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) को जैन-परम्परा में स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिये जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ वैदिक परम्परा से ग्रहण कर लिया। भैरव पद्मावतीकल्प आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जैन-पूजा और प्रतिष्ठा की विधि में वैदिक परम्परा के अनेक ऐसे तत्त्व भी जुड़ गये जो जैन-परम्परा के मूलभूत मन्तव्यों से भिन्न हैं। हम यह देखते हैं कि जैन-परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा भैरव, भोमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि की उपासना प्रमुख होती जा रही है। जैनधर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष जो हमारे सामने आया, वह मूलत: वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव ही है। जिनपूजा एवं अनुष्ठान विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण-परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण-परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय

उसका आह्वान और विसर्जन किया जाता है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं। यथा —

ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवोषट्।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भवभव वषट्।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।

ये मन्त्र जैनदर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। क्योंकि जहाँ ब्राह्मण-परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते हैं। वहाँ जैन-परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थङ्कर न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करने पर जा ही सकते हैं। पं० फूलचन्दजी ने "ज्ञानपीठ पूजांजलि" की भूमिका में विस्तार से इसकी चर्चा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन सम्बन्धी जैन मन्त्रों की ब्राह्मण मन्त्रों से समानता भी दिखाई है। तुलना कीजिये —

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।। १ ।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।। २ ।।

— विसर्जनपाठ

इसके स्थान में ब्राह्मणधर्म में ये श्लोक उलब्ध होते हैं —

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।। १ ।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्ण तदस्तु मे ।। २ ।।

इसी प्रकार पंचोपचारपूचा, अष्टद्रव्यपूजा, यज्ञ का विधान, विनायक-यन्त्र-स्थापना, यज्ञोपवीतधारण आदि भी जैन-परम्परा के अनुकूल नहीं हैं। किन्तु जब पौराणिक धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, तो पंचोपचारपूजा आदि विधियों का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इन विधियों को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, जिससे पूर्व प्रचलित विधि गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वान, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिये व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य महत्त्व प्राप्त हुआ। इस प्रकार पूजा के समय

सामायिक या ध्यान की मूल भावना में परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथि संविभाग व्रत का अंग मान लिया गया। यह सभी ब्राह्मण परम्परा की अनुकृति ही हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में बोले जाने वाले मन्त्रों को निश्चय ही जैन रूप दे दिया गया है। जिस परम्परा में एक वर्ग ऐसा हो जो तीर्थङ्कर के कवलाहार का भी निषेध करता हो वही तीर्थङ्कर की सेवा में नैवेद्य अर्पित करे यह क्या सिद्धान्त की विडम्बना नहीं कही जायेगी? जैन-परम्परा ने पूजा-विधान के अतिरिक्त संस्कार विधि में भी हिन्दू-परम्परा का अनुसरण किया है। सर्वप्रथम आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में हिन्दू संस्कारों को जैन दृष्टि से संशोधित करके जैनों के लिये भी एक पूरी संस्कार-विधि तैयार की है। सामान्यतया हिन्दुओं में जो सोलह संस्कारों की परम्परा है, उसमें निवृत्तिमूलक परम्परा की दृष्टि से दीक्षा (संन्यासग्रहण) आदि कुछ संस्कारों की वृद्धि करके यह संस्कार-विधि तैयार की गयी है। इसमें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और क्रियान्वय क्रिया ऐसे तीन विभाग किये गए हैं। इनमें गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त क्रियाएँ बताई गई हैं। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में जो संस्कार-विधि प्रचलित हुई वह बृहद् हिन्दू-परम्परा से प्रभावित है। श्वेताम्बर परम्परा में किसी संस्कार-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु व्यवहार में वे भी हिन्दू-परम्परा में प्रचलित संस्कारों को यथावत् रूप में अपनाते हैं। उनमें आज भी विवाहादि संस्कार हिन्दू परम्परानुसार ही ब्राह्मण पण्डित के द्वारा सम्पन्न कराए जाते हैं। अत स्पष्ट है कि विवाहादि संस्कारों के सम्बन्ध में भी जैन परम्परा पर हिन्दू परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है।

वस्तुतः मन्दिर एवं जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित अधिकांश अनुष्ठान ब्राह्मण परम्परा की देन हैं और उसकी मूलभूत प्रकृति कहे जा सकते हैं। किसी भी परम्परा के लिये अपनी सहवर्ती परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि जैन-परम्परा की अनुष्ठान विधियों में ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव आया।

हिन्दू वर्ण एवं जाति व्यवस्था का जैनधर्म पर प्रभाव

मूलतः श्रमण-परम्परा और जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध खड़े हुए थे किन्तु कालक्रम में बृहत् हिन्दू-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति सम्बन्धी अवधारणाएँ प्रविष्ट हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण-व्यवस्था के उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण सर्वप्रथम आचारांगनिर्युक्ति (लगभग ईस्वी सन् तीसरी शती) में प्राप्त होता है। उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। ऋषभ के द्वारा राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो गये — १. शासक (स्वामी) एवं २. शासित (सेवक)। उसके पश्चात्

शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए — १. क्षत्रिय (शासक), २. वैश्य (कृषक और व्यवसायी) और ३. शूद्र (सेवक)। उसके पश्चात् श्रावक-धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण (माहण) कहा गया। इस प्रकार क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आए। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के समवर्णीय अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोगों से सोलह वर्ण बने, जिनमें सात वर्ण और नौ अन्तर वर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णीय स्त्री-पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष एवं शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न, ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीन वर्ण। आचारांगचूर्णि (ईसा की ७वीं शती) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्राणी के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवाँ वर्ण है। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठाँ वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शुद्ध शूद्र या संकर शूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धों के आधार पर निम्नलिखित नौ अन्तर-वर्ण बने — ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ, ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से 'निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ, शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्रा' (खत्रा) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वेदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'चाण्डाल' नामक सोलहवाँ वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आयीं।"

उपरोक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैन धर्म के आचार्यों ने भी काल-क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू-परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए आचार्य जिनसेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिये हिन्दू वर्ण एवं जाति-व्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि

आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं — कारु और अकारु। पुनः कारु के भी दो भेद हैं — स्पृश्य और अस्पृश्य। धोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र हैं और चाण्डाल आदि जो नगर के बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं (आदिपुराण, १६/१८४-१८६)। शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य और अस्पृश्य ये भेद सर्वप्रथम केवल पुराणकाल में जिनसेन ने किये हैं। उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है। किन्तु हिन्दू-समाज-व्यवस्था से प्रभावित होने के बाद के जैन आचार्यों ने इसे प्रायः मान्य किया। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य-अस्पृश्य की चर्चा की है। यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था किन्तु बाद के दिगम्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी और शूद्र की मुनि-दीक्षा एवं जिनमन्दिर में प्रवेश का भी निषेध कर दिया। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांगसूत्र (३/२०२) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त और नपुंसक की मुनि-दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने चाण्डालादि जाति-जुंगित और व्याधादि कर्मजुंगति लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया। यद्यपि यह सब जैन-धर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था, फिर भी हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से इसे मान्य कर लिया गया। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि एक ही जैनधर्म के अनुयायी जातीय भेद के आधार पर दूसरी जाति का छुआ हुआ खाने में, उन्हें साथ बिठाकर भोजन करने में आपत्ति करने लगे। शूद्र का जल-त्याग एक आवश्यक कर्त्तव्य हो गया और शूद्रों का जिन-मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

इस प्रकार जहाँ प्राचीन स्तर में जैन चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने, श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधना के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे; वहीं सातवीं-आठवीं सदी में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि-दीक्षा और मोक्ष-प्राप्ति हेतु अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, स्थानांग में मात्र रोगी, भयार्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति-जुंगित जैसे — चाण्डाल आदि और कर्म-जुंगित जैसे — कसाई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया। किन्तु यह बृहत्तर हिन्दू-परम्परा का प्रभाव ही था जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था। जैनों ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने हेतु मान्य किया क्योंकि आगमों में

हरिकेशीबल, मेतार्य, मातंगमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

सन्दर्भ

१. उत्तराध्ययन, २५/२७,२१.
२. धम्मपद, ४०१-४०३.
३. उत्तराध्ययन, १२/४४.
४. अंगुत्तरनिकाय, सुत्तनिपात उद्धृत भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ० २६.
५. देखिये — भगवान बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ०, २३६-२३९.
६. गीता, ४/३३, २६-२८.
७. उत्तराध्ययन, १२/४६.
८. उत्तराध्ययन, ९/४०, देखिये — गीता (शा०) ४/२६-२७.
९. धम्मपद, १०६.
१०. सम्बोध प्रकरण, गुर्वाधिकार.

●

आचार्य हेमचन्द्र : एक युगपुरुष

आचार्य हेमचन्द्र भारतीय मनीषारूपी आकाश के एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। विद्योपासक श्वेताम्बर जैन आचार्यों में बहुविध और विपुल साहित्यस्रष्टा के रूप में आचार्य हरिभद्र के बाद यदि कोई महत्त्वपूर्ण नाम है तो वह आचार्य हेमचन्द्र का ही है। जिस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने विविध भाषाओं में जैन विद्या की विविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया था, उसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने विविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया है। आचार्य हेमचन्द्र गुजरात की विद्वत् परम्परा के प्रतिभाशाली और प्रभावशाली जैन आचार्य हैं। उनके साहित्य में जो बहुविधता है वह उनके व्यक्तित्व की एवं उनके ज्ञान की बहुविधता की परिचायिका है। काव्य, छन्द, व्याकरण, कोश, कथा, दर्शन, अध्यात्म और योग-साधना आदि सभी प्रक्षों को आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी सृजनधर्मिता में समेट लिया है। धर्मसापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के साहित्य के सृजन में उनके व्यक्तित्व की समानता का अन्य कोई नहीं मिलता है। जिस मोढ़वणिक जाति ने सम्प्रति युग में गाँधी जैसे महान् व्यक्ति को जन्म दिया उसी मोढ़वणिक जाति ने आचार्य हेमचन्द्र को भी जन्म दिया था।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के धन्धुका नगर में श्रेष्ठि चाचिग तथा माता पाहिणी की कुक्षि से ई० सन् १०८८ में हुआ था। जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह माना जाता है कि हेमचन्द्र के पिता शैव और माता जैनधर्म की अनुयायी थीं।[१] आज भी गुजरात की इस मोढ़वणिक जाति में वैष्णव और जैन दोनों धर्मों के अनुयायी पाए जाते हैं। अतः हेमचन्द्र के पिता चाचिग के शैवधर्मावलम्बी और माता पाहिणी के जैनधर्मावलम्बी होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में ऐसे अनेक परिवार रहे हैं जिसके सदस्य भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे। सम्भवतः पिता के शैव-धर्मावलम्बी और माता के जैन-धर्मावलम्बी होने के कारण ही हेमचन्द्र के जीवन में धार्मिक समन्वयशीलता के बीज अधिक विकसित हो सके। दूसरे शब्दों में धर्मसमन्वय की जीवनदृष्टि तो उन्हें अपने पारिवारिक परिवेश से ही मिली थी।

आचार्य देवचन्द्र जो कि आचार्य हेमचन्द्र के दीक्षागुरु थे, स्वयं भी प्रभावशाली आचार्य थे। उन्होंने बालक चंगदेव (हेमचन्द्र के जन्म का नाम) की प्रतिभा को समझ लिया था, इसलिये उन्होंने उनकी माता से उन्हें बाल्यकाल में

ही प्राप्त कर लिया। आचार्य हेमचन्द्र को उनकी अल्प बाल्यावस्था में ही गुरु द्वारा दीक्षा प्रदान कर दी गई और विधिवत रूप से उन्हें धर्म, दर्शन और साहित्य का अध्ययन करवाया गया। वस्तुतः हेमचन्द्र की प्रतिभा और देवचन्द्र के प्रयत्न ने बालक के व्यक्तित्व को एक महनीयता प्रदान की। हेमचन्द्र का व्यक्तित्व भी उनके साहित्य की भाँति बहु-आयामी था। वे कुशल राजनीतिज्ञ, महान् धर्मप्रभावक, लोक-कल्याणकर्ता एवं अप्रतिम विद्वान्, सभी कुछ थे। उनके महान् व्यक्तित्व के सभी पक्षों को उजागर कर पाना तो यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी मैं कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।

हेमचन्द्र की धार्मिक सहिष्णुता

यह सत्य है कि आचार्य हेमचन्द्र की जैनधर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी किन्तु साथ ही वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु भी थे। उन्हें यह गुण अपने परिवार से ही विरासत में मिला था। जैसा कि सामान्य विश्वास है, हेमचन्द्र की माता जैन और पिता शैव थे। एक ही परिवार में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों की उपस्थिति उस परिवार की सहिष्णुवृत्ति की ही परिचायक होती है। आचार्य की इस कुलगत सहिष्णुवृत्ति को जैनधर्म के अनेकान्तवाद की उदार दृष्टि से और अधिक बल मिला। यद्यपि यह सत्य है कि अन्य जैन आचार्यों के समान हेमचन्द्र ने भी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका नामक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा और उसमें अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा भी की। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि हेमचन्द्र में धार्मिक उदारता नहीं थी। वस्तुतः हेमचन्द्र जिस युग में हुए थे, वह युग दार्शनिक वाद-विवाद का युग का था। अतः हेमचन्द्र की यह विवशता थी कि वे अपनी परम्परा की रक्षा के लिये अन्य दर्शनों की मान्यताओं की तार्किक समीक्षा कर परपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का मण्डन करें। किन्तु यदि हेमचन्द्र की महादेवस्तोत्र आदि रचनाओं एवं उनके व्यावहारिक जीवन को देखें तो हमें यह मानना होगा कि उनके जीवन में और व्यवहार में धार्मिक उदारता विद्यमान थी। कुमारपाल के पूर्व वे जयसिंह सिद्धराज के सम्पर्क में थे, किन्तु उनके जीवनवृत्त से हमें ऐसा कोई संकेत-सूत्र नहीं मिलता कि उन्होंने कभी भी सिद्धराज को जैनधर्म का अनुयायी बनाने का प्रयत्न किया हो। मात्र यही नहीं, जयसिंह सिद्धराज के दरबार में रहते हुए भी उन्होंने कभी किसी अन्य परम्परा के विद्वान् की उपेक्षा या अवमानना की हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।[२] यद्यपि कथानकों में जयसिंह सिद्धराज के दरबार में उनके दिगम्बर जैन आचार्य के साथ हुए वाद-विवाद का उल्लेख अवश्य है परन्तु उसमें भी मुख्य वादी के रूप में हेमचन्द्र न होकर बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि ही थे। यह भी सत्य है कि हेमचन्द्र से

प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैनधर्मानुयायी बनकर जैनधर्म की प्रर्याप्त प्रभावना की, किन्तु कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन या उनको जैन बनाने में हेमचन्द्र का कितना हाथ था, यह विचारणीय ही है। वस्तुतः हेमचन्द्र के द्वारा न केवल कुमारपाल की जीव-रक्षा हुई थी अपितु उसे राज्य भी मिला था। यह तो आचार्य के प्रति उसकी अत्यधिक निष्ठा ही थी जिसने उसे जैनधर्म की ओर आकर्षित किया। यह भी सत्य है कि हेमचन्द्र ने उसके माध्यम से अहिंसा और नैतिक मूल्यों का प्रसार करवाया और जैनधर्म की प्रभावना भी करवाई किन्तु कभी भी उन्होंने राजा में धार्मिक कट्टरता का बीज नहीं बोया। कुमारपाल सम्पूर्ण जीवन में शैवों के प्रति भी उतना ही उदार रहा, जितना वह जैनों के प्रति था। यदि हेमचन्द्र चाहते तो उसे शैवधर्म से पूर्णतः विमुख कर सकते थे, पर उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया बल्कि उसे सदैव ही शैवधर्मानुयायियों के साथ उदार दृष्टिकोण रखने का आदेश दिया। यदि हेमचन्द्र में धार्मिक संकीर्णता होती तो वे कुमारपाल द्वारा सोमनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार करा कर उसकी प्रतिष्ठा में स्वयं भाग क्यों लेते? अथवा स्वयं महादेवस्तोत्र की रचना कर राजा के साथ स्वयं भी महादेव की स्तुति कैसे कर सकते थे? उनके द्वारा रचित महादेवस्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि वे धार्मिक उदारता के समर्थक थे। स्तोत्र में उन्होंने शिव, महेश्वर, महादेव, आदि शब्दों की सुन्दर और सम्प्रदाय निरपेक्ष व्याख्या करते हुए अन्त में यही कहा है कि संसाररूपी बीज के अंकुरों को उत्पन्न करनेवाले राग और द्वेष जिसके समाप्त हो गए हों उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ, चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, महादेव हों अथवा जिन हों।[३]

धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ मिथ्या-विश्वासों का पोषण नहीं

यद्यपि हेमचन्द्र धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक हैं, फिर भी वे इस सन्दर्भ में सतर्क हैं कि धर्म के नाम पर मिथ्याधारणाओं और अन्धविश्वासों का पोषण न हो। इस सन्दर्भ में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जिस धर्म में देव या उपास्य राग-द्वेष से युक्त हों, धर्मगुरु अब्रह्मचारी हों और धर्म में करुणा व दया के भावों का अभाव हो, ऐसा धर्म वस्तुतः अधर्म ही है। उपास्य के सम्बन्ध में हेमचन्द्र को नामों का कोई आग्रह नहीं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन, किन्तु उपास्य होने के लिये वे एक शर्त अवश्य रख देते हैं, वह यह कि उसे राग-द्वेष से मुक्त होना चाहिये। वे स्वयं कहते हैं कि —

भवबीजांकुरजननरागद्याक्षयमुपागतास्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै ।।[४]

इसी प्रकार गुरु के सन्दर्भ में भी उनका कहना है कि उसे ब्रह्मचारी या

चरित्रवान होना चाहिये। वे लिखते हैं कि —

सर्वाभिलाषिण: सर्व भो जिन: सपरिग्रह: ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा: गुरवो न तु ।।[५]

अर्थात् जो आकांक्षा से युक्त हो, भोज्याभोज्य के विवेक से रहित हो, परिग्रह सहित और अब्रह्मचारी तथा मिथ्या उपदेश देनेवाला हो, वह गुरु नहीं हो सकता। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो हिंसा और परिग्रह में आकण्ठ डूबा हो, वह दूसरों को कैसे तार सकता है। जो स्वयं दीन हो वह दूसरों को धनाढ्य कैसे बना सकता है।[६] अर्थात् चरित्रवान, निष्परिग्रही और ब्रह्मचारी व्यक्ति ही गुरु योग्य हो सकता है। धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में भी हेमचन्द्र का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि जिस साधनामार्ग में दया एवं करुणा का अभाव हो, जो विषयाकांक्षाओं की पूर्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानता हो, जिसमें संयम का अभाव हो, वह धर्म नहीं हो सकता। हिंसादि से कलुषित धर्म, धर्म न होकर संसार-परिभ्रमण का कारण ही होता है।[७]

इस प्रकार हेमचन्द्र धार्मिक सहिष्णुता को स्वीकार करते हुए भी इतना अवश्य मानते हैं कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण नहीं होना चाहिये। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड न होकर करुणा और लोकमंगल से युक्त सदाचार का सामान्य आदर्श ही है। वे स्पष्टत: कहते हैं कि संयम, शील, और दया से रहित धर्म मनुष्य के बौद्धिक दिवालियेपन का ही सूचक है। वे आत्म-पीड़ा के साथ उद्घोष करते हैं कि यह बड़े खेद की बात है कि जिसके मूल में क्षमा, शील और दया है, ऐसे कल्याणकारी धर्म को छोड़कर मन्दबुद्धि लोग हिंसा को भी धर्म मानते हैं।[८]

इस प्रकार हेमचन्द्र धार्मिक उदारता के कट्टर समर्थक होते हुए भी धर्म के नाम पर आयी हुई विकृतियों और चरित्रहीनता की समीक्षा करते हैं।

सर्वधर्मसमभाव क्यों ?

हेमचन्द्र की दृष्टि में सर्वधर्मसमभाव की आवश्यकता क्यों है, इसका निर्देश पं० बेचरदासजी ने अपने 'हेमचन्द्राचार्य'[९] नामक ग्रन्थ में किया है। जयसिंह सिद्धराज की सभा में हेमचन्द्र ने सर्वधर्मसमभाव के विषय में जो विचार प्रस्तुत किये थे वे पं० बेचरदासजी के शब्दों में निम्नलिखित हैं —

"हेमचन्द्र कहते हैं कि प्रजा में यदि व्यापक देश-प्रेम और शूरवीरता हो, किन्तु यदि धार्मिक उदारता न हो तो देश की जनता खतरे में ही होगी, यह निश्चित ही समझना चाहिये। धार्मिक उदारता के अभाव में प्रेम संकुचित हो जाता है और शूरवीरता एक उन्मत्तता का रूप ले लेती है। ऐसे उन्मत्त लोग खून की

नदियों को बहाने में भी नहीं चूकते और देश उजाड़ हो जाता है। सोमनाथ के पवित्र देवालय का नष्ट होना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दक्षिण में धर्म के नाम पर जो संघर्ष हुआ उनमें हजारों लोगों की जाने गयीं। यह हवा अब गुजरात की ओर बहने लगी है, किन्तु हमें विचारना चाहिये कि यदि गुजरात में इस धर्मान्धता का प्रवेश हो गया तो हमारी जनता और राज्य को विनष्ट होने में कोई समय नहीं लगेगा। आगे वे पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार गुजरात के महाराज्य के विभिन्न देश अपनी विभिन्न भाषाओं, वेशभूषाओं और व्यवसायों को करते हुए सभी महाराजा सिद्धराज की आज्ञा के वशीभूत होकर कार्य करते हैं, उसी प्रकार चाहे हमारे धार्मिक क्रियाकलाप भिन्न हों फिर भी उनमें विवेक-दृष्टि रखकर सभी को एक परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल रहना चाहिये। इसी में देश और प्रजा का कल्याण है। यदि हम सहिष्णुवृत्ति से न रहकर, धर्म के नाम पर यह विवाद करेंगे कि यह धर्म झूठा है और यह धर्म सच्चा है, यह धर्म नया है यह धर्म पुराना है, तो हम सबका ही नाश होगा। आज हम जिस धर्म का आचरण कर रहे हैं, वह कोई शुद्ध धर्म न होकर शुद्ध धर्म को प्राप्त करने के लिये योग्यताभेद के आधार पर बनाए गए भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक बंधारण मात्र हैं। हमें यह ध्यान रहे कि शस्त्रों के आधार पर लड़ा गया युद्ध तो कभी समाप्त हो जाता है, परन्तु शास्त्रों के आधार पर होने वाले संघर्ष कभी समाप्त नहीं होते, अतः धर्म के नाम पर अहिंसा आदि पाँच व्रतों का पालन हो, सन्तों का समागम हो, ब्राह्मण, श्रमण और माता-पिता की सेवा हो, यदि जीवन में हम इतना ही पा सकें तो हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।''

हेमचन्द्र की चर्चा में धार्मिक उदारता और अनुदारता के स्वरूप और उनके परिणामों का जो महत्त्वपूर्ण उल्लेख उपलब्ध है वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि कभी हेमचन्द्र के समय में रहा होगा।

हेमचन्द्र और गुजरात की सदाचार-क्रान्ति

हेमचन्द्र ने सिद्धराज और कुमारपाल को अपने प्रभाव में लेकर गुजरात में जो महान् सदाचार क्रान्ति की वह उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और जिससे आज तक भी गुजरात का जनजीवन प्रभावित है। हेमचन्द्र ने अपने प्रभाव का उपयोग जनसाधारण को अहिंसा और सदाचार की ओर प्रेरित करने के लिये किया। कुमारपाल को प्रभावित कर उन्होंने इस बात का विशेष प्रयत्न किया कि जनसाधारण में से हिंसकवृत्ति और कुसंस्कार समाप्त हों। उन्होंने शिकार और पशु बलि के निषेध के साथ-साथ मद्यपान निषेध, द्यूतक्रीड़ा-निषेध के आदेश भी राजा से पारित कराये। आचार्य ने न केवल इस सम्बन्ध में राज्यादेश

निकलवाए, अपितु, जन-जन को राज्यादेशों के पालन हेतु प्रेरित भी किया और सम्पूर्ण गुजरात और उसके सीमावर्ती प्रदेश में एक विशेष वातावरण निर्मित कर दिया। उस समय की गुजरात की स्थिति का कुछ चित्रण हमें हेमचन्द्र के महावीरचरित में मिलता है। उसमें कहा गया है कि "राजा के हिंसा और शिकार-निषेध का प्रभाव यहाँ तक हुआ कि असंस्कारी कुलों में जन्म लेने वाले व्यक्तियों ने भी खटमल और जूँ जैसे सूक्ष्म जीवों की हिंसा बन्द कर दी। शिकार बन्द हो जाने से जीव-जन्तु जंगलों में उसी निर्भयता से घूमने लगे, जैसे गौशाला में गाएँ। राज्य में मदिरापान इस प्रकार बन्द हो गया कि कुम्भारों को मद्यभाण्ड बनाना भी बन्द करना पड़ा। मद्यपान के कारण जो लोग अत्यन्त दरिद्र हो गए थे, वे इसका त्याग कर फिर से धनी हो गए। सम्पूर्ण राज्य मे द्यूतक्रीड़ा का नामोनिशान ही समाप्त हो गया।"[१०] इस प्रकार हेमचन्द्र ने अपने प्रभाव का उपयोग कर गुजरात में व्यसनमुक्त संस्कारी जीवन की जो क्रान्ति की थी, उसके तत्त्व आज तक गुजरात के जनजीवन में किसी सीमा तक सुरक्षित हैं। वस्तुतः यह हेमचन्द्र के व्यक्तित्व की महानता ही थी जिसके परिणामस्वरूप एक सम्पूर्ण राज्य में संस्कार क्रान्ति हो सकी।

स्त्रियों और विधवाओं के संरक्षक हेमचन्द्र

यद्यपि हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' में पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के समान ही ब्रह्मचर्य के साधक को अपनी साधना में स्थिर रखने के लिये नारी-निन्दा की है। वे कहते हैं कि स्त्रियों में स्वभाव से ही चंचलता, निर्दयता और कुशीलता के दोष होते हैं। एक बार समुद्र की थाह पायी जा सकती है किन्तु स्वभाव से कुटिल, दुश्चरित्र कामिनियों के स्वभाव की थाह पाना कठिन है।[११] किन्तु इसके आधार पर यह मान लेना कि हेमचन्द्र स्त्री जाति के मात्र आलोचक थे, गलत होगा। हेमचन्द्र ने नारी ज़ाति की प्रतिष्ठा और कल्याण के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसके कारण वे युगों तक याद किये जायेंगे। उन्होंने कुमारपाल को उपदेश देकर विधवा और निस्सन्तान स्त्रियों की सम्पत्ति को राज्यसात किये जाने की क्रूर-प्रथा को सम्पूर्ण राज्य में सदैव के लिये बन्द करवाया और इस माध्यम से न केवल नारी-जाति को सम्पत्ति का अधिकार दिलवाया,[१२] अपितु उनकी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा भी की और अनेकानेक विधवाओं को संकटमय जीवन से उबार दिया। अतः हम कह सकते हैं कि हेमचन्द्र ने नारी को अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्रदान की।

प्रजारक्षक हेमचन्द्र

हेमचन्द्र की दृष्टि में राजा का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य अपनी प्रजा के

सुख-दुःख का ध्यान रखना है। हेमचन्द्र राजगुरु होकर जनसाधारण के निकट सम्पर्क में थे। एक समय वे अपने किसी अति निर्धन भक्त के यहाँ भिक्षार्थ गए और वहाँ से सूखी रोटी और मोटा खुरदुरा कपड़ा भिक्षा में प्राप्त किया। वही मोटी रोटी खाकर और मोटा वस्त्र धारण कर वे राजदरबार में पहुँचे। कुमारपाल ने जब उन्हें अन्यमनस्क, मोटा कपड़ा पहने दरबार में देखा, तो जिज्ञासा प्रकट की, कि मुझसे क्या कोई गलती हो गई है? आचार्य हेमचन्द्र ने कहा — "हम तो मुनि हैं, हमारे लिये तो सूखी रोटी और मोटा कपड़ा ही उचित है। किन्तु जिस राजा के राज्य में प्रजा को इतना कष्टमय जीवन बिताना होता है, वह राजा अपने प्रजा-धर्म का पालक तो नहीं कहा जा सकता। ऐसा राजा नरकेसरी होने के स्थान पर नरकेश्वरी ही होता है। एक ओर अपार स्वर्ण-राशि और दूसरी ओर तन ढकने का कपड़ा और खाने के लिये सूखी रोटी का अभाव, यह राजा के लिये उचित नहीं है।" कहा जाता है कि हेमचन्द्र के इस उपदेश से प्रभावित हो राजा ने आदेश दिया कि नगर में जो भी अत्यन्त गरीब लोग हैं उनको राज्य की ओर से वस्त्र और खाद्य-सामग्री प्रदान की जाये।[१३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेमचन्द्र यद्यपि स्वयं एक मुनि का जीवन जीते थे किन्तु लोकमंगल और लोकल्याण के लिये तथा निर्धन जनता के कष्ट दूर करने के लिये वे सदा तत्पर रहते थे और इसके लिये राजदरबार में भी अपने प्रभाव का प्रयोग करते थे।

समाजशास्त्री हेमचन्द्र

स्वयं मुनि होते हुए भी हेमचन्द्र पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये सजग थे। वे एक ऐसे आचार्य थे, जो जनसाधारण के सामाजिक जीवन के उत्थान को भी धर्माचार्य का आवश्यक कर्तव्य मानते थे। उनकी दृष्टि में धार्मिक होने की आवश्यक शर्त यह भी थी कि व्यक्ति एक सभ्य समाज के सदस्य के रूप में जीना सीखे। एक अच्छा नागरिक होना धार्मिक जीवन में प्रवेश करने की आवश्यक भूमिका है। अपने ग्रन्थ 'योगशास्त्र' में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि श्रावकधर्म का अनुसरण करने के पूर्व व्यक्ति एक अच्छे नागरिक का जीवन जीना सीखे। उन्होंने ऐसे ३५ गुणों का निर्देश किया है, जिनका पालन एक अच्छे नागरिक के लिये आवश्यक रूप से वांछनीय है। वे लिखते हैं कि — "१. न्यायपूर्वक धन-सम्पत्ति को अर्जित करने वाला, २. सामान्य शिष्टाचार का पालन करने वाला, ३. समान कुल और शील वाली अन्य गोत्र की कन्या से विवाह करने वाला, ४. पापभीरु, ५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करने वाला, ६. निन्दा का त्यागी, ७. ऐसे मकान में निवास

करने वाला जो न तो अधिक खुला हो न अति गुप्त, ८. सदाचारी व्यक्तियों के सत्संग में रहने वाला, ९. माता-पिता की सेवा करने वाला, १०. अशान्त तथा उपद्रव युक्त सत्संग स्थान को त्याग देनेवाला, ११. निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करने वाला, १२. आय के अनुसार व्यय करने वाला, १३. सामाजिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि के अनुसार वस्त्र धारण करने वाला, १४. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त, १५. सदैव धर्मोपदेश का श्रवण करने वाला, १६. अजीर्ण के समय भोजन का त्याग करने वाला, १७. भोजन के अवसर पर स्वास्थ्यप्रद भोजन करने वाला, १८. धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों का परस्पर विरोध रहित भाव से सेवन करने वाला, १९. यथाशक्ति अतिथि, साधु एवं दीन-दु:खियों की सेवा करने वाला, २०. मिथ्या-आग्रहों से सदा दूर रहने वाला, २१. गुणों का पक्षपाती, २२. निषिद्ध देशाचार और कालाचार का त्यागी, २३. अपने बलाबल का सम्यक् ज्ञान करने वाला और अपने बलाबल का विचार कर कार्य करने वाला, २४. व्रत, नियम में स्थिर; ज्ञानी एवं वृद्ध जनों का पूजक, २५. अपने आश्रितों का पालन-पोषण करने वाला, २६. दीर्घदर्शी, २७. विशेषज्ञ, २८. कृतज्ञ, २९. लोकप्रिय, ३०. लज्जावान, ३१. दयालु, ३२. शान्तस्वभावी, ३३. परोपकार करने में तत्पर, ३४. कामक्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला और ३५. अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला व्यक्ति ही गृहस्थ धर्म के पालन करने योग्य है।"[१४]

वस्तुत: इस समग्र चर्चा में आचार्य हेमचन्द्र ने एक योग्य नागरिक के सारे कर्तव्यों और दायित्वों का संकेत कर दिया है और इस प्रकार एक ऐसी जीवनशैली का निर्देश किया है, जिसके आधार पर सामंजस्य और शान्तिपूर्ण समाज का निर्माण किया जा सकता है। इससे यह भी फलित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन की उपेक्षा करके नहीं चलते, वरन् वे उसे उतना ही महत्त्व देते हैं जितना आवश्यक है और वे यह भी मानते हैं कि धार्मिक होने के लिये एक अच्छा नागरिक होना आवश्यक है।

हेमचन्द्र की साहित्य साधना[१५]

हेमचन्द्र ने गुजरात को और भारतीय संस्कृति को जो महत्त्वपूर्ण अवदान दिया है, वह मुख्यरूप से उनकी साहित्यिक प्रतिभा के कारण ही है। इन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर ही विविध विद्याओं में ग्रन्थ की रचना की। जहाँ एक ओर उन्होंने अभिधान-चिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघंटुकोष, और देशीनाममाला जैसे शब्दकोषों की रचना की, वहीं दूसरी ओर सिद्धहेम-शब्दानुशासन, लिङ्गानुशासन, धातुपारायण जैसे व्याकरण ग्रन्थ भी रचे। कोश

और व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन जैसे अलंकार ग्रन्थ और छन्दोनुशासन जैसे छन्दशास्त्र के ग्रन्थ की रचना भी की। विशेषता यह है कि इन सैद्धान्तिक ग्रन्थों में उन्होंने संस्कृत भाषा के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश के उपेक्षित व्याकरण की भी चर्चा की। इन सिद्धान्तों के प्रायोगिक पक्ष के लिये उन्होंने संस्कृत-प्राकृत में द्व्याश्रय जैसे महाकाव्य की रचना की है। हेमचन्द्र मात्र साहित्य के ही विद्वान् नहीं थे अपितु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी गति निर्बाध थी। दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, अयोगव्यव-च्छेदद्वात्रिंशिका और प्रमाणमीमांसा जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ रचे तो धर्म के क्षेत्र में योग-शास्त्र जैसे साधनाप्रधान ग्रन्थ की भी रचना की। कथा साहित्य में उनके द्वारा रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का अपना विशिष्ट महत्त्व है। हेमचन्द्र ने साहित्य, काव्य, धर्म और दर्शन जिस किसी विधा को अपनाया उसे एक पूर्णता प्रदान की। उनकी इस विपुल साहित्यसर्जना का ही परिणाम था कि उन्हें कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि प्रदान की गयी।

साहित्य के क्षेत्र में हेमचन्द्र के अवदान को समझने के लिये उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का किंचित् मूल्यांकन करना होगा। यद्यपि हेमचन्द्र के पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनीय व्याकरण का अपना महत्त्व था, उस पर अनेक वृत्तियाँ और भाष्य लिखे गए, फिर भी वह विद्यार्थियों के लिये दुर्बोध ही था। व्याकरण के अध्ययन एवं अध्यापन की नई, सहज एवं बोधगम्य प्रणाली को जन्म देने का श्रेय हेमचन्द्र को है। यह हेमचन्द्र का ही प्रभाव था कि परवर्तीकाल में ब्राह्मण परम्परा में इसी पद्धति को आधार बनाकर ग्रन्थ लिखे गए और पाणिनि के अष्टाध्यायी की प्रणाली पठन-पाठन से धीरे-धीरे उपेक्षित हो गयी। हेमचन्द्र के व्याकरण की एक विशेषता तो यह है कि आचार्य ने स्वयं उसकी वृत्ति में कतिपय शिक्षा-सूत्रों को उद्धृत किया है। उनके व्याकरण की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के व्याकरण भी दिये गए हैं। व्याकरण के समान ही उनके कोशग्रन्थ, काव्यानुशासन और छन्दोनुशासन जैसे साहित्यिक सिद्धान्त-ग्रन्थ भी अपना महत्त्व रखते हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित और परिशिष्टपर्व के रूप में उन्होंने जैनधर्म की पौराणिक और ऐतिहासिक सामग्री का जो संकलन किया है, वह भी निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उनकी योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा आदि सभी कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, किन्तु परवर्ती साहित्यकारों द्वारा किया गया उनका अनुकरण इस बात को सिद्ध करता है कि उनकी प्रतिभा से न केवल उनका शिष्यमण्डल अपितु परवर्ती जैन या जैनेतर विद्वान् भी प्रभावित हुए। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने हेमचन्द्र की समग्र कृतियों का

जो श्लोक-परिमाण दिया है, उससे पता लगता है कि उन्होंने लगभग दो लाख श्लोक-परिमाण साहित्य की रचना की है, जो उनकी सृजनधर्मिता के महत्त्व को स्पष्ट करती है।

साधक हेमचन्द्र

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि एक महान् साहित्यकार और प्रभावशाली राजगुरु होते हुए भी मूलत: हेमचन्द्र एक आध्यात्मिक साधक थे। यद्यपि हेमचन्द्र का अधिकांश जीवन साहित्य-सृजन के साथ-साथ गुजरात में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार तथा वहाँ की राजनीति में अपने प्रभाव को यथावत् बनाये रखने में बीता, किन्तु कालान्तर में गुरु से उलाहना पाकर हेमचन्द्र की प्रसुप्त अध्यात्म-निष्ठा पुन: जाग्रत् हो गई थी। कुमारपाल ने जब हेमचन्द्र से अपनी कीर्ति को अमर करने का उपाय पूछा तो उन्होंने दो उपाय बताए — १. सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार और २. समस्त देश को ऋणमुक्त करके विक्रमादित्य के समान अपना संवत् चलाना। कुमारपाल को दूसरा उपाय अधिक उपयुक्त लगा, किन्तु समस्त देश को ऋणमुक्त करने के लिये जितने धन की आवश्यकता थी, उतना उसके पास नहीं था, अत: उसने गुरु हेमचन्द्र से धन-प्राप्ति का उपाय पूछा। इस समस्या के समाधान हेतु यह उपाय सोचा गया कि हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्रसूरि को पाटन बुलवाया जाए और उन्हें जो स्वर्णसिद्धि विद्या प्राप्त है उसके द्वारा अपार स्वर्णराशि प्राप्त करके समस्त प्रजा को ऋणमुक्त किया जाए। राजा, अपने प्रिय शिष्य हेमचन्द्र और पाटन के श्रावकों के आग्रह पर देवचन्द्रसूरि पाटण आए, किन्तु जब उन्हें अपने पाटण बुलाए जाने के उद्देश्य का पता चला तो, न केवल वे पाटण से प्रस्थान कर गए अपितु उन्होंने अपने शिष्य को अध्यात्म साधना से विमुख हो लोकेषणा में पड़ने का उलाहना भी दिया और कहा कि लौकिक प्रतिष्ठा अर्जित करने की अपेक्षा पारलौकिक प्रतिष्ठा के लिये भी कुछ प्रयत्न करो। जैनधर्म की ऐसी प्रभावना भी जिसके कारण तुम्हारा अपना आध्यात्मिक विकास ही कुंठित हो जाय तुम्हारे लिये किस काम की? कहा जाता है कि गुरु के इस उलाहने से हेमचन्द्र को अपनी मिथ्या महत्त्वाकांक्षा का बोध हुआ और वे अन्तर्मुख हो अध्यात्म साधना की ओर प्रेरित हुए।[१९] वे यह विचार करने लगे कि मैंने लोकैषणा में पड़कर न केवल अपने आपको साधना से विमुख किया अपितु गुरु की साधना में भी विघ्न डाला। पश्चात्ताप की यह पीड़ा हेमचन्द्र की आत्मा को बराबर कचोटती रही, जो इस तथ्य की सूचक है कि हेमचन्द्र मात्र साहित्यकार या राजगुरु ही नहीं थे अपितु आध्यात्मिक साधक भी थे।

वस्तुत: हेमचन्द्र का व्यक्तित्व इतना व्यापक और महान् है कि उसे

समग्रत: शब्दों की सीमा में बाँध पाना सम्भव नहीं है। मात्र यही नहीं, उस युग में रहकर उन्होंने जो कुछ सोचा और कहा था वह आज भी प्रासंगिक है। काश हम उनके महान् व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर हिंसा, वैमनस्य और संघर्ष की वर्तमान त्रासदी से भारत को बचा सकें।

सन्दर्भ

१. हेमचन्द्राचार्य (पं० बेचरदास जीवराज दोशी), पृ० १२३.
२. आचार्य हेमचन्द्र (वि० भा० मुसलगांवकर), पृ० १९१.
३. देखें : महादेवस्तोत्र (आत्मानन्द सभा, भावनगर), पृ० १-१६, पृ० ४४.
४. महादेवस्तोत्र, पृ० ४४.
५. योगशास्त्र, २/९.
६. वही, २/१०.
७. वही, २/१३.
८. वही, १/४०.
९. हेमचन्द्राचार्य, पृ० ५३-५६.
१०. देखें : महावीरचरित्र (हेमचन्द्र), ६५-७५ (कुमारपाल के सम्बन्ध में महावीर की भविष्यवाणी).
११. योगशास्त्र, २/८४-८५.
१२. हेमचन्द्राचार्य, पृ० ७७.
१३. वही, पृ० १०१-१०४.
१४. योगशास्त्र, १/४७-५६.
१५. देखें : आचार्य हेमचन्द्र (वि० भा० मुसलगांवकर), अध्याय ७.
१६. हेमचन्द्राचार्य, पृ० १३-१७८.

सम्राट अकबर और जैन धर्म

भारतीय इतिहास में धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव के प्रतिष्ठापकों में जिन सम्राटों का उल्लेख मिलता है उनमें सम्राट अशोक एवं हर्ष के बाद सम्राट अकबर का नाम आता है। भारतीय मुस्लिम शासकों में जो सामान्यतया धार्मिक दृष्टि से कट्टरतावादी रहे हैं, अकबर ही एक मात्र ऐसा व्यक्तित्व है, जो सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अपेक्षाकृत रूप में धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव का समर्थक रहा है, चाहे यह उसने अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ही किया हो। यह सत्य है कि वह अन्य धर्म व परम्पराओं के आचार्य, सन्तों और विद्वानों को अपने दरबार में सम्मानपूर्वक स्थान देता था। अकबर की धार्मिक उदारतावादी दृष्टि के परिणामस्वरूप अनेक कट्टर मुस्लिम उलेमा भी उसके आलोचक एवं विरोधी रहे हैं, फिर भी अकबर ने उनकी परवाह न करके अपने प्रशासन में अन्य धर्म-परम्परा के लोगों को समुचित स्थान दिया और उनकी भावनाओं को समझने का प्रयत्न किया।

अकबर में धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव की दृष्टि किन कारणों से विकसित हुई, यह विवाद का विषय है? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों एवं समालोचकों के मन्तव्य अलग-अलग हैं। कुछ यह मानते हैं कि अकबर ने अपनी नीतियों में जिस धार्मिक उदारता का परिचय दिया उसका कारण उसकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा ही थी। वह अपने प्रशासन में जिस अमन व शान्ति की अपेक्षा रखता था, वह धार्मिक कट्टरता में सम्भव न होकर धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव के द्वारा ही सम्भव थी। अपनी इस उदारवादी दृष्टि के आधार पर वह भारतीय जन-मानस को विशेष रूप से हिन्दू जन-मानस को प्रभावित करना चाहता था और यह दिखाना चाहता कि वह एक मुस्लिम शासक होकर भी हिन्दुओं का हितचिन्तक है। अतः विचारक यह मानते हैं कि उसकी यह धार्मिक सद्भाव व सहिष्णुता की नीति वस्तुतः उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का ही परिणाम है, क्योंकि अपने प्रशासन के प्रारम्भ और अन्त में वह एक कट्टर मुस्लिम शासक के रूप में हमारे सामने आता है, जबकि उसका मध्यकाल धार्मिक उदारता का परिचायक है। इससे यह फलित होता है कि अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति उसकी प्रशासनिक आवश्यकता थी, क्योंकि यदि स्वभावतः इन सिद्धान्तों में उसकी आस्था होती तो जिस जजिया कर को उसने समाप्त किया था, उसे ही

अपने सुस्थापित होने बाद पुनः लागू नहीं करता।

दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि अकबर वस्तुतः एक उदार दृष्टिकोण-सम्पन्न व्यक्ति था, क्योंकि उसने अपने जीवन के आधार पर यह पाया था कि हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों ही धर्मों के कट्टरतावादी लोग वस्तुतः जन-मानस को गुमराह करते हैं और सामाजिक शान्ति को भंग करते हैं। फतेहपुर सीकरी में बनाए गए इबादतख़ाने में ये धार्मिक लोग किस प्रकार से अपने स्थान आदि को लेकर आपस में लड़ते थे, इस सबको देखकर, सम्भव है उसे धर्मान्धता से वितृष्णा उत्पन्न हो गयी हो और उसने धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव की दिशा में अपने प्रयत्न प्रारम्भ किये हों। जीवन के अन्तिम काल में उसमें जो कुछ धार्मिक कट्टरता के लक्षण प्रतीत होते हैं, उनका कारण यह है कि जीवन की अन्तिम अवस्था में परलोक के भय के कारण धर्म के प्रति एक विशेष लगाव उत्पन्न हो जाता है। अन्तिम काल में उसकी धार्मिक कट्टरता सम्भवतः इसी का परिणाम थी।

उसके मन में जो धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव विकसित हुआ उसका कारण क्या था, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ विद्वानों ने यह भी माना है कि वह जैन आचार्यों के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ था। जैन धर्म अपने प्रारम्भिक काल से ही अनेकान्तवाद का समर्थक रहा है और उसका सिद्धान्त धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव का समर्थक है। यह तो स्पष्ट है कि अक़बर हीरविजय, समयसुन्दर, विजयसेन, भानुचन्द्र आदि अनेक जैन आचार्यों और मुनियों के सम्पर्क में रहा है। जैन धर्म में धार्मिक सहिष्णुता व सद्भाव का विकास जो अनेकान्त के सिद्धान्त पर हुआ है उसकी समस्त चर्चा तो यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु उसके आधार यह अवश्य कहा जा सकता है कि अकबर के जीवन में धार्मिक सहिष्णुता व सद्भाव के एवं पशुवध और मांसाहार को कम करने सम्बन्धी जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह जैन आचार्यों के सम्पर्क का ही परिणाम था।

अकबर से जिन जैन आचार्यों का विशेष रूपं से सम्बन्ध रहा है उनमें हीरविजय सूरि, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय, उपाध्याय शान्तिचन्द्र, उपाध्याय समयसुन्दर, उपाध्याय सिद्धिचंद्र, जिनचंद्रसूरि, जिनसिंहसूरि, नन्द-विजय, जयसोम, महोपाध्याय साधुकीर्ति आदि मुख्य हैं। अतः अकबर में पशु-वध, मांसाहार-निषेध तथा धार्मिक सहिष्णुता की जो प्रवृत्ति देखी जाती है उसका एक कारण उस पर इन जैन सन्तों का प्रभाव भी है । अकबर ने जैन सन्तों को जो फ़रमान प्रदान किये थे, उनसे भी इन तथ्यों की पुष्टि होती है। अकबर के द्वारा जैन आचार्यों के जारी फ़रमानों में मुख्य फ़रमान और उनकी विषयवस्तु निम्न-लिखित है —

आचार्य हीरविजय सूरि को अकबर द्वारा प्रदत्त प्रथम फ़रमान में यह निर्देश है कि पर्युषण के १२ दिनों में उन क्षेत्रों में जहाँ जैन जाति निवास करती है, कोई भी जीव न मारा जाय। मिति ७ जमादुलसानी, हिज़री, सन् ९९२। (देखें — नीना जैन, मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति, पृ० १६१-१६२)

दूसरा फ़रमान भी हीरविजय सूरि को दिया गया। इसमें सिद्धाचल (शत्रुंजय), गिरिनार, तारंगा, केशरियाजी, आबू (सभी गुजरात), राजगिरि, सम्मेद शिखर आदि जैन तीर्थ-क्षेत्रों में पहाड़ों पर तथा मन्दिर के आस-पास कोई भी जीव न मारा जाय। इस उल्लेख के साथ यह भी कहा गया है कि यद्यपि पशु-हिंसा का निषेध इस्लाम के विरुद्ध लगता है फिर भी परमेश्वर को पहचानने वाले मनुष्यों का कायदा है कि किसी के धर्म में दखल न दें। ये अर्ज मेरी नज़र में दुरुस्त मालूम पड़ी। तारीख ७ माह उरदी बेहेस्त मुताबिक रविउल अवल वही, सन् ३७ जुलुसी। यह इलाही संवत् ३५ मुताबिक २८वीं मुहर्रम, सन् ९९९ हिज़री का है। (देखें — वही, पृ० १६३-१६४)

हीरविजय को दिये गए तीसरे फ़रमान में विशेष रूप से धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव की बात कही गयी है। (वही, पृ० १६५-१६६)

चौथा फ़रमान अकबर द्वारा विजयसेन सूरि को प्रदान किया गया था। ये हीरविजय के शिष्य थे। इस फ़रमान में यह लिखा है कि हर महीने में कुछ दिन गाय, बैल, भैंस आदि को नहीं खाना और उसे उचित एवं फर्ज मानना तथा पक्षियों को न मारना तथा उन्हें पिजड़े में कैद न करना। जैन मंदिरों एवं उपाश्रयों पर कोई कब्जा न करे तथा जीर्ण मन्दिरों को बनवाने पर उन्हें कोई भी व्यक्ति न रोके। इस तरह यह भी निर्देश है कि वर्षा आदि होना या न होना ईश्वर के अधीन है, इसका दोष जैन साधुओं पर देना मूर्खता है। जैनों को अपने धर्म के अनुसार अपनी धार्मिक क्रियायें करने देना चाहिए। तारीख, शहर्युर, महीना इलाही, सन् ४६ मुताबिक तारीख २५ महीना सफन, हिज़री सन् १०१०। (वही, पृ० १६७-१६८)

अकबर का पाँचवाँ फ़रमान जिनचन्द्र सूरि को दिया गया है। आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने 'पर्युषण के बारह दिनों में हिंसा न हो', ऐसा आंदेश प्राप्त किया था। उसमें पूर्व बारह दिनों के अतिरिक्त आषाढ़ शुक्ल की नवमीं से पूर्णमासी तक भी किसी जीव की हिंसा नहीं की जाय, ऐसा निर्देश है — तारीख ३१ खुरदाद इलाही, सन् ४९ (वही, पृ० १७१)

अकबर द्वारा जैन साधुओं का सम्मान करने तथा उन्हें फ़रमान देने की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी उसकी विशेषता यह थी कि उसकी अगली पीढ़ी में भी

न केवल साधुओं को उनके दरबार में स्थान मिला अपितु उन्हें शहजादों की शिक्षा का दायित्व भी दिया गया। अकबर के पश्चात् जहाँगीर एवं शाहजहाँ ने भी इसी प्रकार के अमारी अर्थात् पशु-हिंसा-निषेध के फ़रमान दिये। अकबर के मन में मांसाहार एवं पशुहिंसा-निषेध के लिए जो विचार विकसित हुए थे उनके पीछे इन जैनाचार्यों का प्रभाव रहा है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता।

अकबर में जो धार्मिक सहिष्णुता व सद्भाव की भावना का विकास हुआ उसका एक कारण यह भी था कि उसने स्वयं अपनी अनुभूति के आधार पर यह जान लिया था कि कोई भी धर्म पूर्ण नहीं है और चरमसत्य को जान लेना मानव के वश की बात नहीं। फतेहपुर सीकरी के इबादतख़ाने में वह विभिन्न धर्मों के विद्वान् आचार्यों की बातें सुनता था और अन्य धर्मों के प्रति की गयी उनकी समालोचना पर ध्यान भी देता था, इससे उसे यह ज्ञान हो गया था कि कोई भी धर्म पूर्ण नहीं है। किसी भी धर्म-परम्परा द्वारा अपनी पूर्णता का एवं अपने को एकमात्र सत्य होने का दावा करना निरर्थक है। यह वही दृष्टि थी जो कि अनेकान्त की तत्त्व विचारणा में जैन आचार्यों ने प्रस्तुत की थी और जिसे उन्होंने दर्शन परम्परा का आधार बनाया था। चाहे अकबर में यह उदार या अनेकान्तिक दृष्टि जैन आचार्यों के प्रभाव से आयी हो या धर्माचार्यों के पारस्परिक वाद-विवाद और समीक्षा के कारण, जिनका सम्राट स्वयं साक्षी होता था, किन्तु यह निश्चित है कि उसकी जो भी अनुभूति थी, वह जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त के अनुकूल थी। यह भी निश्चय है कि आचार्यों ने उसकी इस अनुभूति को अपने अनेकान्त सिद्धान्त के अनुकूल बताकर उसे पुष्ट किया होगा और परिणामस्वरूप अकबर पर उनकी इस उदार-वृत्ति का प्रभाव हुआ होगा।

अकबर पर जैन साधुओं का प्रभाव इसलिये भी अधिक पड़ा क्योंकि वे निःस्पृह और अपरिग्रही थे, उन्होंने राजा से अपनी सुख-सुविधा के लिये कभी कुछ नहीं माँगा, जब भी बादशाह ने उनसे कुछ माँगने की बात कही तो उन्होंने सदैव ही सभी धर्मों के अनुयायियों के संरक्षण तथा पशु-हिंसा व मांसाहार के निषेध के फ़रमान ही माँगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर, जहाँगीर एवं शाहजहाँ तक मुग़ल-सम्राटों की जो उदार नीति रही है उसके मूल में इनके दरबारों में उपस्थित और इन सम्राटों के द्वारा आदृत जैन आचार्यों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है।

हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि जैनाचार्यों के प्रभाव के अतिरिक्त ऐसे अन्य तथ्य भी थे जिनका प्रभाव अकबर की उदारवादी नीति पर रहा होगा। अकबर की धार्मिक उदारता का एक कारण यह भी था कि उसके पिता

को और स्वयं उसे भी अपनी सत्ता के लिए हिन्दुओं की अपेक्षा मुस्लिमों से ही अधिक संघर्ष करना पड़ा था और अकबर ने यह समझ लिया था कि भारत पर शासन करने में उसके मुख्य प्रतिस्पर्धी हिन्दू न होकर मुसलमान ही हैं। दूसरे यह कि उसने हिन्दुओं पर शासन करने हेतु उनका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझा था। इस प्रकार राजनैतिक परिस्थितियों ने भी उसे धार्मिक उदारता की नीति स्वीकार करने हेतु विवश किया था।

अन्त में हमें यह स्मरण रखना होगा कि अकबर में धार्मिक उदारता का एक क्रमिक विकास देखा जाता है। प्रारम्भ में वह एक निष्ठावान मुसलमान ही रहा है। चाहे वह कट्टर धर्मान्ध न रहा हो फिर भी उसके प्रारम्भिक जीवन में उसकी इस्लाम के प्रति निष्ठा अधिक थी, किन्तु राजपूत राजाओं से मिले सहयोग एवं राजपूत कन्याओं से विवाह के परिणामस्वरूप उसमें धार्मिक उदारता का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अपनी रानियों को अपनी-अपनी धार्मिक निष्ठाओं एवं विधियों के अनुसार उपासना की अनुमति दी थी। धीरे-धीरे फकीरों एवं साधुओं के सत्संग से भी उसमें एक आध्यात्मिक चेतना का विकास हुआ और उसने युद्ध-बन्दियों को मुसलमान बनाने और गुलाम बनाने की प्रथा को समाप्त किया। सर्वप्रथम उसने सन् १५६३ में तीर्थयात्रियों पर से कर तथा उसके बाद जजिया कर समाप्त कर दिया, साथ ही गैर मुसलमानों को अपने धार्मिक-स्थलों को निर्मित करवाने की छूट दी और उन्हें उच्च-पदों पर अधिष्ठित किया। ये ऐसे तथ्य हैं जो बताते हैं कि अकबर में जिस धार्मिक उदारता का विकास हुआ था वह एक क्रमिक विकास था। इस क्रमिक विकास से यह भी प्रतिफलित होता है कि वह परिस्थितियों एवं व्यक्तियों से प्रभावित होता रहा है। अत: जैनाचार्यों के द्वारा भी उसका प्रभावित होना स्वाभाविक है। अत: अकबर के जीवन में जो उदारता एवं अहिंसक वृत्ति का विकास हुआ उसका बहुत कुछ श्रेय जैनाचार्यों को भी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

मुग़ल सम्राटों की धार्मिक नीति, कु० नीना जैन, काशीनाथ सराफ, विजयधर्म सूरि, समाधि मन्दिर, शिवपुरी, १९९१.

मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, अगरचन्द नाहटा व भँवर लाल नाहटा, मणिधारी जिनचन्द्र सूरि अष्टम शताब्दी समारोह समिति, दिल्ली, सन् १९७१.

अकबर दी ग्रेट, विन्से ए स्मिथ, ऑक्सफोर्ड ऐट दी क्लेरण्डन प्रेस, १९१९.

दी रिलीजियस पॉलिसी ऑफ़ दी मुग़ल एम्परर्स, श्री राम शर्मा, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६२.

दी मुग़ल एम्पायर, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, शिवलाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १९६७.

सूरीश्वर अने सम्राट, मुनिराज विद्याविजय जी, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सं० १९७९.

जगद्गुरु हीर, मुमुक्षु भव्यानन्द, विजयश्री ज्ञान मन्दिर, घाणेराव, मारवाड़, संवत् २००८.

जैन शासन दीपावली नो खास अंक, हीरविजय सूरि ऑर दी जैन्स ऐट दी कोर्ट ऑफ अकबर, चिमनलाल डाह्याभाई, हर्षचन्द भूराभाई, बनारस सिटी, संवत् २४३८.

जैनधर्म में अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न

निर्ग्रन्थ परम्परा में सचेलकत्व और अचेलकत्व का प्रश्न अति प्राचीन काल से ही विवाद का विषय रहा है। वर्तमान में जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय हैं, उनके बीच भी विवाद का प्रमुख बिन्दु यही है। पहले भी इसी विवाद के कारण उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ विभाजित हुआ था और यापनीय सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। दूसरे शब्दों में इसी विवाद के कारण जैनों में विभिन्न सम्प्रदाय अर्थात् श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय निर्मित हुए हैं। यह समस्या मूलतः मुनि-आचार से ही सम्बन्धित है, क्योंकि गृहस्थ उपासक, उपासिकाएँ और साध्वियाँ तो तीनों ही सम्प्रदायों में सचेल (सवस्त्र) ही मानी गई हैं।

मुनियों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता यह है कि मात्र अचेल (नग्न) ही मुनि पद का अधिकारी है। जिसके पास वस्त्र है, चाहे वह लँगोटी मात्र ही क्यों न हो, वह मुनि नहीं हो सकता है।[1] इसके विपरीत श्वेताम्बरों का कहना है कि मुनि अचेल (नग्न) होता है और सचेल (सवस्त्र) भी।[2] साथ ही वे यह भी मानते हैं कि वर्तमान काल की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिसमें मुनि का अचेल (नग्न) रहना उचित नहीं है। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न यापनीयों की मान्यता यह है कि अचेलता ही श्रेष्ठ मार्ग है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में मुनि वस्त्र रख सकता है।[3] इस प्रकार जहाँ दिगम्बर परम्परा एकान्त रूप से अचेलकत्व को ही मुनि-मार्ग या मोक्ष-मार्ग मानती है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा वर्तमान में जिनकल्प (अचेल-मार्ग) का उच्छेद दिखाकर सचेलता पर ही बल देती है। यापनीय परंम्परा का दृष्टिकोण इन दोनों अतिवादियों के मध्य समन्वय करता है। वह मानता है कि सामान्यतया तो मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये, क्योंकि वस्त्र भी परिग्रह ही है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में संयमोपकरण कें रूप में वस्त्र रखा जा सकता है। उसकी दृष्टि में अचेलकत्व (नग्नत्व) उत्सर्ग मार्ग है और सचेलकत्व अपवाद मार्ग है।

प्रस्तुत परिचर्चा में सर्वप्रथम हम इस विवाद को इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह विवाद क्यों, कैसे और किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ ?

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री

इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने हेतु हमारे पास जो प्राचीन स्रोत सामग्री उपलब्ध है, उनमें प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम, पालि-त्रिपिटक और मथुरा से प्राप्त प्राचीन जिन-प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर अंकित मुनि-प्रतिमाएँ ही मुख्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य अर्धमागधी आगमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें इस चर्चा का आधार बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रथम तो ये प्राचीन (ई० पू० के) हैं और दूसरे इनमें हमें सम्प्रदायातीत दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी प्राचीनता एवं सम्प्रदाय निरपेक्षता को स्वीकार किया है। शौरसेनी आगम साहित्य में कसायपाहुड ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जो अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर का है, किन्तु दुर्भाग्य से इसमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं है। शेष शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में भगवती आराधना, मूलाचार और षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा के हैं। साथ ही गुणस्थान सिद्धान्त आदि की परवर्ती अवधारणाओं की उपस्थिति के कारण ये ग्रन्थ भी विक्रम की छठी शती के पूर्व के नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी प्रस्तुत चर्चा में इनका उपयोग इसलिये आवश्यक है कि अचेल पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन स्रोत-सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें सुत्तपाहुड एवं लिंगपाहुड को छोड़कर यह चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। ये ग्रन्थ भी छठीं शती के पूर्व के नहीं हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेल परम्परा के पास सचेलकत्व और अचेलकत्व की इस परिचर्चा के लिये छठी शती के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

जहाँ तक अन्य परम्पराओं के प्राचीन स्रोतों का प्रश्न है; वेदों में नग्न श्रमणों या व्रात्यों के उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु वे स्पष्टतः निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा के हैं, यह कहना कठिन है। यद्यपि अनेक हिन्दू पुराणों में नग्न जैन श्रमणों के उल्लेख हैं, किन्तु अधिकांश हिन्दू पुराण तो विक्रम की पाँचवीं-छठी शती या उसके भी बाद के हैं, अतः उनमें उपलब्ध साक्ष्य अधिक महत्त्व के नहीं हैं। दूसरे उनमें सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार के जैन मुनियों के उल्लेख मिल जाते हैं, अतः उन्हें इस परिचर्चा का आधार नहीं बनाया जा सकता है।

इस दृष्टि से पालित्रिपिटक के उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और किसी सीमा तक सत्य के निकट भी प्रतीत होते हैं। इस परिचर्चा के हेतु जो आधारभूत प्रामाणिक सामग्री हमें उपलब्ध होती है, वह है मथुरा से उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियाँ और उनके अभिलेख। प्रथम तो यह सब सामग्री ईसा की प्रथम-द्वितीय

शताब्दी की है। दूसरे इसमें किसी भी प्रकार के प्रक्षेप आदि की सम्भावना भी नहीं है। अत: यह प्राचीन भी है और प्रामाणिक भी क्योंकि इसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक स्रोतों से भी हो जाती है। अत: इस परिचर्चा में हमने सर्वाधिक उपयोग इसी सामग्री का किया है।

महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र की स्थिति

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में भगवान् महावीर से पूर्व तेईस तीर्थङ्कर हो चुके थे। अत: प्रथम विवेच्य बिन्दु तो यही है कि अचेलता के सम्बन्ध में इन पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की क्या मान्यताएँ थीं ? यद्यपि सम्प्रदाय भेद स्थिर हो जाने के पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में जहाँ दिगम्बर ग्रन्थ एक मत से यह उद्घोष करते हैं कि सभी जिन अचेल होकर ही दीक्षित होते हैं[४], वहाँ श्वेताम्बर ग्रन्थ यह कहते हैं कि सभी जिन एक देवदूष्य वस्त्र लेकर ही दीक्षित होते हैं।[५] मेरी दृष्टि में ये दोनों ही दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त हैं। श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा के अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर की आचार-व्यवस्था मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों की आचार-व्यवस्था से भिन्न थी।[६] यापनीय ग्रन्थ मूलाचार प्रतिक्रमण आदि के सन्दर्भ में उनकी इस भिन्नता का तो उल्लेख करता है किन्तु मध्यवर्ती तीर्थङ्कर सचेल धर्म के प्रतिपादक थे, यह नहीं कहता है। जबकि श्वेताम्बर आगम उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने अचेल धर्म का प्रतिपादन किया, जबकि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का प्रतिपादन किया था।[७] यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि बृहत्कल्पभाष्य में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर को अचेल धर्म का और मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों को सचेल-अचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[८] यद्यपि उत्तराध्ययन स्पष्टतया पार्श्व के धर्म को 'सचेल' अथवा सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) ही कहता है सचेल-अचेल नहीं। 'मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन में भी अचेल मुनि होते थे', बृहत्कल्पभाष्य की यह स्वीकारोक्ति उसकी सम्प्रदाय निरपेक्षता की ही सूचक है। यद्यपि दिगम्बर और यापनीय परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के इन कथनों को मान्य नहीं करते हैं, किन्तु हमें श्वेताम्बर आगमों के इन कथनों में सत्यता परिलक्षित होती है, क्योंकि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी इन कथनों की बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है।

यहाँ हमारा उद्देश्य सम्प्रदायगत मान्यताओं से ऊपर उठकर मात्र प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ही इस समस्या पर विचार करना है। अत: इस परिचर्चा में हम परवर्ती अर्थात् साम्प्रदायिक मान्यताओं के दृढ़ीभूत होने के बाद

के ग्रन्थों को आधार नहीं बना रहे हैं।

महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों में मात्र ऋषभ, अरिष्टनेमि और पार्श्व के कथानक ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यद्यपि इनमें भी ऋषभ और अरिष्टनेमि के कथानक प्रागैतिहासिक काल के हैं। वेदों से भी हमें इनके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी (नामोल्लेख के अतिरिक्त) नहीं मिलती है। वेदों में भी ये नाम किस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं और किसके वाचक हैं ये तथ्य आज भी विवादास्पद ही हैं। इन दोनों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जैन एवं जैनेतर स्रोतों से भी जो सामग्री उपलब्ध होती है वह ईसा की प्रथम शती के पूर्व की नहीं है।

वेदों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्रात्यों एवं वातरशना मुनियों के जो उल्लेख हैं[९], उनसे इतना तो अवश्य फलित होता है कि प्रागैतिहासिक काल में नग्न अथवा मलिन एवं जीर्णवस्त्र धारण करने वाले श्रमणों की एक परम्परा अवश्य थी। सिन्धुघाटी-सभ्यता की मोहन-जो-दड़ो एवं हड़प्पा से जो नग्न योगियों के अंकन वाली सीलें प्राप्त हुई हैं उनसे भी इस तथ्य की ही पुष्टि होती है कि नग्न एवं मलिन वस्त्र धारण करने वाले श्रमणों/योगियों/व्रात्यों की एक परम्परा प्राचीन भारत में अस्तित्व रखती थी। उस परम्परा के अग्र-पुरुष के रूप में ऋषभ या शिव को माना जा सकता है। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन सीलों में उस योगी को मुकुट और आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है जिससे उसके नग्न निर्ग्रन्थ मुनि होने के सम्बन्ध में बाधा आती है।[१०] ये अंकन श्वेताम्बर तीर्थङ्कर मूर्तियों से आंशिक साम्यता रखते हैं, क्योंकि वे अपनी मूर्तियों को आभूषण पहनाते हैं।

ऋषभ का अचेल धर्म

प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम उत्तराध्ययन में ऋषभ के नाम का उल्लेख मात्र है, उनके जीवन के सन्दर्भ में कोई विवरण नहीं है। इससे अपेक्षाकृत परवर्ती कल्पसूत्र एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही सर्वप्रथम उनका जीवनवृत्त मिलता है, फिर भी इनमें उनकी साधना एवं आचार-व्यवस्था का कोई विशेष विवरण नहीं है। परवर्ती श्वेताम्बर, दिगम्बर ग्रन्थों में और उनके अतिरिक्त हिन्दू-पुराणों तथा विशेषरूप से भागवत में ऋषभदेव के द्वारा अचेलकत्व के आचरण के जो उल्लेख मिलते हैं, उन सबके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि ऋषभदेव अचेल परम्परा के पोषक रहे होंगे।[११] ऋषभ अचेल धर्म के प्रवर्तक थे, यह मानने में सचेल श्वेताम्बर परम्परा को भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उसकी भी मान्यता यही है कि ऋषभ और महावीर दोनों ही अचेल धर्म के सम्पोषक थे।[१२]

ऋषभ के पश्चात् और अरिष्टनेमि के पूर्व मध्य के २० तीर्थङ्करों के

जीवनवृत्त एवं आचार-विचार के सम्बन्ध में छठी शती के पूर्व अर्थात् सम्प्रदायों के स्थिरीकरण के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। मात्र अर्धमागधी आगमों में समवायांग में और शौरसेनी आगम-तुल्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में नाम, माता-पिता, जन्म-नगर आदि सम्बन्धी छिट्पुट सूचनाएँ हैं, जो प्रस्तुत चर्चा की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं।

इस प्रकार मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों में से मात्र बाईसवें अरिष्टनेमि एवं तेईसवें पार्श्व ही ऐसे हैं जिनसे सम्बन्धित सूचनाएँ उत्तराध्ययन के क्रमश: बाईसवें एवं तेईसवें अध्याय में मिलती हैं, किन्तु उनमें भी बाईसवें अध्याय में अरिष्टनेमि की आचार-व्यवस्था का और विशेष रूप से वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी परम्परा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्याय में राजीमति के द्वारा गुफा में वर्षा के कारण भीगा हुआ अपना वस्त्र सुखाने का उल्लेख होने से केवल एक ही तथ्य की पुष्टि होती है कि अरिष्टनेमि की परम्परा में साध्वियाँ सवस्त्र होती थीं।[१३] उस गुफा में साधना में स्थित रथनेमि सवस्त्र थे या निर्वस्त्र, ऐसा कोई स्पष्ट संकेत इसमें नहीं है। अत: वस्त्र सम्बन्धी विवाद में केवल पार्श्व एवं महावीर इन दो ऐतिहासिक काल के तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में ही जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर ही चर्चा की जा सकती है।

पार्श्व का सचेल धर्म

पार्श्व के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध हैं उनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से ऋषिभाषित (लगभग ई० पू० चौथी-पाँचवीं शती), सूत्रकृतांग (लगभग तीसरी-चौथी शती), उत्तराध्ययन (ई० पू० दूसरी शती), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई० पू० दूसरी शती) एवं भगवती (ई० पू० दूसरी शती से लेकर ईसा की दूसरी शती तक) के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी ऋषिभाषित और सूत्रकृतांग में पार्श्व की वस्त्र सम्बन्धी मान्यताओं की स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन ही एकमात्र ऐसा आधार है जिसमें महावीर के धर्म को अचेल एवं पार्श्व के धर्म को सचेल या सांतरुत्तर कहा गया है।[१४] इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भिन्न थीं। उत्तराध्ययन की प्राचीनता निर्विवाद है और उसके कथन को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पुन: निर्युक्ति, भाष्य आदि परवर्ती आगमिक व्याख्याओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अत: इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई स्थान शेष नहीं रहता है। किन्तु पार्श्व की परम्परा के द्वारा मान्य 'सांतरुत्तर' शब्द का क्या अर्थ है — यह विचारणीय है। सांतरुत्तर शब्द का अर्थ परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने विशिष्ट, रंगीन एवं बहुमूल्य वस्त्र किया है।

उत्तराध्ययन की टीका में नेमिचन्द्र लिखते हैं — सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी की अपेक्षा परिमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा उत्तर अर्थात् महामूल्यवान होने से प्रधान, ऐसे वस्त्र जिस परम्परा में धारण किये जायें वह धर्म सान्तरोत्तर है।[१५] किन्तु सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) शब्द का यह अर्थ समुचित नहीं है। वस्तुत: जब श्वेताम्बर आचार्य अचेल का अर्थ कुत्सितचेल या अल्पचेल करने लगे[१६], तो यह स्वाभाविक था कि सान्तरोत्तर का अर्थ विशिष्ट, महामूल्यवान रंगीन वस्त्र किया जाय, ताकि अचेल के परवर्ती अर्थ में और संतरुत्तर के अर्थ में किसी प्रकार से संगति स्थापित की जा सके। किन्तु संतरुत्तर का यह अर्थ शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उचित नहीं है। इससे इन टीकाकारों की अपनी साम्प्रदायिक मानसिकता ही प्रकट होती है। संतरुत्तर के वास्तविक अर्थ को आचार्य शीलांक ने अपनी आचारांग टीका में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१७] ज्ञातव्य है कि संतरुत्तर शब्द उत्तराध्ययन के अतिरिक्त आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी आया है।[१८] आचारांग में इस शब्द का प्रयोग उन निर्ग्रन्थ मुनियों के सन्दर्भ में हुआ है, जो दो वस्त्र रखते थे। उसमें तीन वस्त्र रखने वाले मुनियों के लिये कहा गया है कि हेमन्त के बीत जाने पर एवं ग्रीष्म ॠतु के आ जाने पर यदि किसी भिक्षु के वस्त्र जीर्ण हो गये हों तो वह उन्हें स्थापित कर दे अर्थात् छोड़ दे और सांतरोत्तर अथवा अल्पचेल (ओमचेल) अथवा एकशाटक अथवा अचेलक हो जाये।[१९] यहाँ संतरुत्तर की टीका करते हुए शीलांक कहते हैं कि अन्तर सहित है उत्तरीय (ओढ़ना) जिसका, अर्थात् जो वस्त्र को आवश्यकता होने पर कभी ओढ़ लेता है और कभी पास में रख लेता है।[२०]

पं० कैलाशचन्द्रजी ने संतरुत्तर की शीलांक की उपरोक्त व्याख्या से यह प्रतिफलित करना चाहा है कि पार्श्व के परम्परा के साधु रहते तो नग्न ही थे, किन्तु पास में वस्त्र रखते थे, जिसे आवश्यकता होने पर ओढ़ लेते थे।[२१] किन्तु पण्डितजी की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संतरुत्तर से नग्नता किसी भी प्रकार फलित नहीं होती है। वस्तुत: संतरुत्तर शब्द का प्रयोग आचारांग में तीन वस्त्र रखने वाले साधुओं के सन्दर्भ में हुआ है और उन्हें यह निर्देश दिया गया है कि ग्रीष्म ॠतु के आने पर वे एक जीर्ण-वस्त्र को छोड़कर संतरुत्तर अर्थात् दो वस्त्र धारण करने वाले हो जायें। अत: संतरुत्तर होने का अर्थ अन्तरवासक और उत्तरीय ऐसे दो वस्त्र रखना है। अन्तरवस्त्र आजकल का Underwear अर्थात् गुह्यांग को ढकने वाला वस्त्र है। उत्तरीय शरीर के ऊपर के भाग को ढकने वाला वस्त्र है। 'संतरुत्तर' की शीलांक की यह व्याख्या भी हमें यही बताती है कि उत्तरीय कभी ओढ़ लिया जाता था और कभी पास में रख लिया जाता था, क्योंकि

गर्मी में सदैव उत्तरीय ओढ़ा नहीं जाता था। अत: संतरुत्तर का अर्थ कभी सचेल हो जाना और कभी वस्त्र को पास में रखकर अचेल हो जाना नहीं है। यदि संतरुत्तर होने का अर्थ कभी सचेल और कभी अचेल (नग्न) होना होता तो फिर अल्पचेल और एकशाटक होने की चर्चा इसी प्रसंग में नहीं की जाती। तीन वस्त्रधारी साधु एक जीर्ण वस्त्र का त्याग करने पर सांतरुत्तर होता है। एक जीर्ण वस्त्र का त्याग और दूसरे जीर्ण वस्त्र के जीर्ण भाग को निकालकर अल्प आकार का बनाकर रखने पर अल्पचेल, दोनों जीर्ण वस्त्रों का त्याग करने पर एकशाटक अथवा ओमचेल और तीनों वस्त्रों का त्याग करने पर अचेल होता है। वस्तुत: आज भी दिगम्बर परम्परा का क्षुल्लक सान्तरोत्तर है और ऐलक एकशाटक तथा मुनि नग्न (अचेल) होता है। अत: पार्श्व की सचेल सान्तरोत्तर परम्परा में मुनि दो वस्त्र रखते थे — अधोवस्त्र और उत्तरीय। उत्तरीय आवश्यकतानुसार शीतकाल आदि में ओढ़ लिया जाता था और ग्रीष्मकाल में अलग रख दिया जाता था।

आचारांग के नवें उपधानश्रुत नामक अध्याय में महावीर का जीवनवृत्त वर्णित है। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर की जीवन-गाथा के सम्बन्ध में इससे प्राचीन एवं प्रामाणिक अन्य कोई सन्दर्भ हमें उपलब्ध नहीं है। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, भगवती और बाद के सभी महावीर के जीवन-चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ इससे परवर्ती हैं और उनमें महावीर के जीवन के साथ जुड़ी अलौकिकताएँ यही सिद्ध करती हैं कि वे महावीर की जीवन-गाथा का अतिरंजित चित्र ही उपस्थित करते हैं। इसलिये महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो भी तथ्य हमें उपलब्ध हैं, वे प्रामाणिक रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के इसी उपधानश्रुत में उपलब्ध हैं। इसमें महावीर के दीक्षित होने का जो विवरण है उससे यह ज्ञात होता है कि वे एक वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे और लगभग एक वर्ष के कुछ अधिक समय के पश्चात् उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया और पूर्णत: अचेल हो गये।[१२] महावीर के जीवन की यह घटना ही वस्त्र के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जैन परम्परा के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ सचेलता से किया, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने पूर्ण अचेलता को ही अपना आदर्श माना। परवर्ती आगम ग्रन्थों में एवं उनकी व्याख्याओं में महावीर के एक वर्ष पश्चात् वस्त्र-त्याग करने के सन्दर्भ में अनेक प्रवाद या मान्यतायें प्रचलित हैं। यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना और श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं में इन प्रवादों या मान्यताओं का उल्लेख है।[१३] यहाँ हम उन प्रवादों में न जाकर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त समझते हैं कि प्रारम्भ में महावीर ने वस्त्र लिया था और बाद में वस्त्र का परित्याग

कर दिया। वह वस्त्र-त्याग किस रूप में हुआ यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यदि हम महावीर के समकालीन अन्य श्रमण-परम्पराओं की वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि उस युग में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार की श्रमण परम्पराएँ प्रचलित थीं। उनमें से पार्श्व के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन और उसके परवर्ती साहित्य में जो कुछ सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उन सबसे एक मत से पार्श्व की परम्परा, सवस्त्र परम्परा सिद्ध होती है। स्वयं उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन इस बात का साक्षी है कि पार्श्व की परम्परा सचेल परम्परा थी। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा भी सचेल थी। दूसरी ओर आजीवक सम्प्रदाय पूर्णत: अचेलता का प्रतिपादक था। यह सम्भव है कि महावीर ने अपने वंशानुगत पार्श्वापत्यीय परम्परा के प्रभाव से एक वस्त्र ग्रहण करके अपनी साधना-यात्रा प्रारम्भ की हो। कल्पसूत्र में उनके दीक्षित होते समय आभूषण-त्याग का उल्लेख है वस्त्र-त्याग का नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महावीर उत्तर विहार के वैशाली जनपद में शीत ऋतु के प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में दीक्षित हुए थे। उस क्षेत्र की भयंकर सर्दी को ध्यान में रखकर परिवार के लोगों के अति आग्रह के कारण सम्भवत: महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र स्वीकार किया हो। मेरी दृष्टि में इसमें भी पारिवारिक आग्रह ही प्रमुख कारण रहा होगा। महावीर ने सदैव ही परिवार के वरिष्ठजनों को सम्मान दिया। यही कारण रहा कि माता-पिता के जीवित रहते उन्होंने प्रव्रज्या नहीं ली। पुन: बड़े भाई के आग्रह से दो वर्ष और गृहस्थावस्था में रहे। सम्भवत: शीत ऋतु में दीक्षित होते समय भाई या परिजनों के आग्रह से उन्होंने वह एक वस्त्र लिया हो। सम्भव है कि विदाई की उस बेला में परिजनों के इस छोटे से आग्रह को ठुकराना उन्हें उचित न लगा हो। किन्तु उसके बाद उन्होंने कठोर साधना का निर्णय लेकर उस वस्त्र का उपयोग शरीरादि ढकने के लिये नहीं करूँगा, ऐसा निश्चय किया और दूसरे वर्ष के शीतकाल की समाप्ति पर उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया। आचारांग से इन सभी तथ्यों की पुष्टि होती है। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे, इस तथ्य को स्वीकार करने में श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर तीनों में से किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। तीनों ही परम्पराएँ एक मत से यह स्वीकार करती हैं कि महावीर अचेल धर्म के ही प्रतिपालक और प्रवक्ता थे। महावीर का सचेल दीक्षित होना भी स्वैच्छिक नहीं था, वस्त्र उन्होंने लिया नहीं, अपितु उनके कन्धे पर डाल दिया गया था। यापनीय आचार्य अपराजितसूरि ने इस प्रवाद का उल्लेख किया है — वे कहते हैं कि यह तो उपसर्ग हुआ, सिद्धान्त नहीं। आचारांग में उनके वस्त्र ग्रहण को 'अनुधर्म' कहा गया है, अर्थात् यह परम्परा का अनुपालन

मात्र था। हो सकता है कि उन्होंने मात्र अपनी कुल-परम्परा अर्थात् पार्श्वापत्य परम्परा का अनुसरण किया हो। श्वेताम्बर आचार्य उसकी व्याख्या में इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य वस्त्र ग्रहण करने की बात कहते हैं। यह मात्र परम्परागत विश्वास है, इस सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपधानश्रुत मात्र वस्त्र-ग्रहण की बात कहता है। वह वस्त्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य था, ऐसा उल्लेख नहीं करता। मेरी दृष्टि में इस 'अनुधर्म' में 'अनु' शब्द का अर्थ वही है जो अणुव्रत में 'अनु' शब्द का है अर्थात् आंशिक त्याग। वस्तुत: महावीर का लक्ष्य तो पूर्ण अचेलता का था, किन्तु प्रारम्भ में उन्होंने वस्त्र का आंशिक त्याग ही किया था। जब एक वर्ष की साधना से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वे अपनी काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं और दो शीतकालों के व्यतीत हो जाने से उन्हें यह अनुभव हो गया कि उनका शरीर उस शीत को सहने में पूर्ण समर्थ है, तो उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया।[२४] ज्ञातव्य है कि महावीर ने दीक्षित होते समय मात्र सामायिक चारित्र ही लिया था, महाव्रतों का ग्रहण नहीं किया था। श्वेताम्बर आगमों का कथन है कि सभी तीर्थङ्कर एक देवदुष्य लेकर सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा से ही दीक्षित होते हैं।[२५] यह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि सामायिक चारित्र से दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा रही होगी।

निष्कर्ष यह है कि महावीर की साधना का प्रारम्भ सचेलता से हुआ किन्तु उसकी परिनिष्पत्ति अचेलता में हुई। महावीर की दृष्टि में सचेलता अणुधर्म था और अचेलता मुख्य धर्म था। महावीर द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने में उनके कुल-धर्म अर्थात् पार्श्वापत्य परम्परा का प्रभाव हो सकता है किन्तु पूर्ण अचेलता का निर्णय या तो उनका स्वत:स्फूर्त था या फिर आजीवक परम्परा का प्रभाव। यह सत्य है कि महावीर पार्श्वापत्य परम्परा से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने पार्श्वापत्य परम्परा के दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से पार्श्वापत्यों के निकट होते हुए भी आचार की दृष्टि से वे उनसे सन्तुष्ट नहीं थे। पार्श्वापत्यों के शिथिलाचार के उल्लेख और उसकी समालोचना जैनधर्म की सचेल और अचेल दोनों परम्पराओं के साहित्य में मिलती है।[२६] यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वापत्यों की आचार-व्यवस्था में व्यापक सुधार किये। सम्भव है कि अचेलता के सम्बन्ध में वे आजीवकों से प्रभावित हुए हों। हर्मन जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस सन्दर्भ में महावीर पर आजीवकों का प्रभाव होने की सम्भावना को स्वीकार किया है।

हमारे कुछ दिगम्बर विद्वान् यह मत रखते हैं कि महावीर की अचेलता

से प्रभावित होकर आजीवकों ने अचेलता (नग्नता) को स्वीकार किया, किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है और ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य भी नहीं है। चाहे गोशालक महावीर के शिष्य के रूप में उनके साथ लगभग छः वर्ष तक रहा हो, किन्तु न तो गोशालक से प्रभावित होकर महावीर नग्न हुए और न महावीर की नग्नता का प्रभाव गोशालक के माध्यम से आजीवकों पर ही पड़ा, क्योंकि गोशालक महावीर के पास उनके दूसरे नालन्दा चातुर्मास के मध्य पहुँचा था, जबकि महावीर उसके आठ मास पूर्व ही अचेल हो चुके थे। दूसरे यह कि आजीवकों की परम्परा गोशालक के पूर्व भी अस्तित्व में थी, गोशालक आजीवक परम्परा का प्रवर्तक नहीं था। न केवल भगवतीसूत्र में, अपितु पालित्रिपटक में भी गोशालक के पूर्व हुए आजीवक सम्प्रदाय के आचार्यों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यदि आजीवक सम्प्रदाय महावीर के पूर्व अस्तित्व में था, तो इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसकी अचेलता आदि कुछ आचार परम्पराओं ने महावीर को प्रभावित किया हो। अतः पार्श्वापत्य परम्परा के प्रभाव से महावीर के द्वारा वस्त्र का ग्रहण करना और आजीवक परम्परा के प्रभाव से वस्त्र का परित्याग करना मात्र काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। उसके पीछे ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार है। महावीर का दर्शन पार्श्वापत्यों से और आचार आजीवकों से प्रभावित रहा है।

जहाँ तक महावीर की शिष्य-परम्परा का प्रश्न है यदि गोशालक को महावीर का शिष्य माना जाय, तो वह अचेल रूप में ही महावीर के पास आया था और अचेल ही रहा। जहाँ तक गौतम आदि गणधरों और महावीर के अन्य प्रारम्भिक शिष्यों का प्रश्न है मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने जिनकल्प अर्थात् भगवान् महावीर की अचेलता को ही स्वीकार किया होगा, क्योंकि यदि गणधर गौतम सचेल होते या सचेल परम्परा के पोषक होते तो श्रावस्ती में हुई परिचर्चा में केशी उनसे सचेलता और अचेलता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं करते। अतः श्रावस्ती में हुई इस परिचर्चा के पूर्व महावीर का मुनि-संघ पूर्णतः अचेल ही रहा होगा। उसमें वस्त्र का प्रवेश क्रमशः किन्हीं विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही हुआ होगा। महावीर के संघ में सचेलता के प्रवेश के निम्नलिखित कारण सम्भावित हैं —

१. सर्वप्रथम जब महावीर के संघ में स्त्रियों को प्रव्रज्या प्रदान की गई तो उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित किया गया क्योंकि लोक-लज्जा, मासिक धर्म आदि शारीरिक कारणों से उन्हें नग्न रूप में दीक्षित किया जाना उचित नहीं था। अचेलता की सम्पोषक दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि

महावीर के संघ में आर्यिकाएँ सवस्त्र ही होती थीं। जब एक बार आर्यिकाओं के संदर्भ में विशेष परिस्थिति में वस्त्र ग्रहण की स्वीकृति दी गई तो इसने मुनि-संघ में भी आपवादिक परिस्थिति में जैसे भगन्दर आदि रोग होने पर वस्त्र-ग्रहण का द्वार उद्घाटित कर दिया। सामान्यतया तो वस्त्र परिग्रह ही था किन्तु स्त्रियों के लिये और अपवादमार्ग में मुनियों के लिये उसे संयमोपकरण मान लिया गया।

२. पुनः जब महावीर के संघ में युवा दीक्षित होने लगे होंगे तो महावीर को उन्हें भी सवस्त्र रहने की अनुमति देनी पड़ी होगी, क्योंकि उनके जीवन में लिंगोत्थान और वीर्यपात की घटनाएँ सम्भव थीं। ये ऐसी सामान्य मनोदैहिक घटनाएँ हैं जिनसे युवा मुनि का पूर्णतः बच पाना असम्भव है। मनोदैहिक दृष्टि से युवावस्था में चाहे कामवासना पर नियन्त्रण रखा जा सकता हो किन्तु उक्त स्थितियों का पूर्ण निर्मूलन सम्भव नहीं होता है। निर्ग्रन्थ संघ में युवा मुनियों में ये घटनाएँ घटित होती थीं, ऐसे आगमिक उल्लेख हैं। यदि ये घटनाएँ अरण्य में घटित हों, तो उतनी चिन्तनीय नहीं थीं किन्तु भिक्षा, प्रवचन आदि के समय स्त्रियों की उपस्थिति में इन घटनाओं का घटित होना न केवल उस मुनि की चारित्रिक प्रतिष्ठा के लिये घातक था, बल्कि सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि-संघ की प्रतिष्ठा पर एक प्रश्न-चिह्न खड़ा करता था। अतः यह आवश्यक समझा गया कि जब तक वासना पूर्णतः मर न जाय, तब तक ऐसे युवा मुनि के लिये नग्न रहने या जिनकल्प धारण करने की अनुमति न दी जाय। श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं में तो यह स्पष्ट निर्देश है कि ३० वर्ष की वय के पूर्व जिनकल्प धारण नहीं किया जा सकता है। सत्य तो यह है कि निर्ग्रन्थ संघ में सचेल और अचेल ऐसे दो वर्ग स्थापित हो जाने पर यह व्यवस्था दी गई कि युवा मुनियों को छेदोपस्थापनीय चारित्र न दिया जाकर मात्र सामायिक चारित्र दिया जाय, क्योंकि जब तक व्यक्ति सम्पूर्ण परिग्रह त्याग करके अचेल नहीं हो जाता, तब तक उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं दिया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि महावीर ने ही सर्वप्रथम सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र (महाव्रतारोपण) ऐसे दो प्रकार के चारित्रों की व्यवस्था की जो आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छोटी दीक्षा और बड़ी दीक्षा के नाम से प्रचलित है। युवा मुनियों के लिये 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग किया गया और उसके आचार-व्यवहार के हेतु कुछ विशिष्ट नियम बनाये गये, जो आज भी उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के क्षुल्लकाध्ययनों में उपस्थित हैं। महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था उन प्रौढ़ मुनियों के लिये की, जो अपनी वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर चुके थे और अचेल रहने में समर्थ थे। 'छेदोपस्थापना' शब्द का तात्पर्य भी यही है कि पूर्व दीक्षा पर्याय को

समाप्त (छेद) कर नवीन दीक्षा (उपस्थापन) देना। आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छेदोपस्थापना के समय ही महाव्रतारोपण कराया जाता है और तभी दीक्षित व्यक्ति की संघ में क्रम-स्थिति अर्थात् ज्येष्ठता/कनिष्ठता निर्धारित होती है और उसे संघ का सदस्य माना जाता है। सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाला मुनि संघ में रहते हुए भी उसका सदस्य नहीं माना जाता है। इस चर्चा से यह फलित होता है कि निर्ग्रन्थ मुनि-संघ में सचेल (क्षुल्लक) और अचेल (मुनि) ऐसे दो प्रकार के वर्गों का निर्धारण महावीर ने या तो अपने जीवन-काल में ही कर दिया होगा या उनके परिनिर्वाण के कुछ समय पश्चात् कर दिया गया होगा। आज भी दिगम्बर परम्परा में साधक की क्षुल्लक (दो वस्त्रधारी), ऐलक (एक वस्त्रधारी) और मुनि (अचेल) ऐसी तीन व्यवस्थाएँ हैं। अत: प्राचीनकाल में भी ऐसी व्यवस्था रही होगी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि इन सभी सन्दर्भों में वस्त्र-ग्रहण का कारण लोक-लज्जा या लोकापवाद और शारीरिक स्थिति ही था।

३. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का तीसरा कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत, हिमालय के तराई क्षेत्र तथा राजस्थान में शीत का तीव्र प्रकोप होना था। महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थित वे मुनि जो या तो वृद्धावस्था में ही दीक्षित हो रहे थे या वृद्धावस्था की ओर अग्रसर हो रहे थे, उनका शरीर इस भयंकर शीत के प्रकोप का सामना करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा था। ऐसे सभी मुनियों के द्वारा यह भी सम्भव नहीं था कि वे संथारा ग्रहण कर उन शीतलहरों का सामना करते हुए अपने प्राणोत्सर्ग कर दें। ऐसे मुनियों के लिये अपवाद मार्ग के रूप में शीत-निवारण के लिये एक ऊनी वस्त्र रखने की अनुमति दी गई। ये मुनि रहते तो अचेल ही थे, किन्तु रात्रि में शीत-निवारणार्थ उस ऊनी-वस्त्र (कम्बल) का उपयोग कर लेते थे। यह व्यवस्था स्थविर या वृद्ध मुनियों के लिये थी और इसलिये इसे 'स्थविरकल्प' का नाम दिया गया। मथुरा से प्राप्त ईस्वी सन् प्रथम-द्वितीय शती की जिन प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर या फलकों पर जो मुनि प्रतिमाएँ अंकित हैं वे नग्न होकर भी कम्बल और मुखवस्त्रिका लिये हुए हैं। मेरी दृष्टि में यह व्यवस्था भी आपवादिक ही थी।

हम देखते हैं कि महावीर का जो मुनि-संघ दक्षिण भारत या दक्षिण मध्य भारत में रहा उसमें अचेलता सुरक्षित रह सकी, किन्तु जो मुनि-संघ उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत में रहा उसमें शीत-प्रकोप की तीव्रता की देश-कालगत परिस्थितियों के कारण वस्त्र का प्रवेश हो गया। आज भी हम देखते हैं कि जहाँ भारत के दक्षिण और दक्षिण-मध्य क्षेत्र में दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ

पश्चिमोत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा का बाहुल्य है। वस्तुतः इसका कारण जलवायु ही है। दक्षिण में जहाँ शीतकाल में आज भी तापमान २५-३० डिग्री सेल्सियस से नीचे नहीं जाता, वहाँ नग्न रहना कठिन नहीं है किन्तु हिमालय के तराई क्षेत्र, पश्चिमोत्तर भारत एवं राजस्थान जहाँ तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला जाता है, वहाँ शीतकाल में अचेल रहना कठिन है। पुनः एक युवा साधक को शीत सहन करने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी कि वृद्ध तपस्वी साधक को। अतः जिन क्षेत्रों में शीत की अधिकता थी उन क्षेत्रों में वस्त्र का प्रवेश स्वाभाविक ही था। आचारांग में हमें ऐसे मुनियों के उल्लेख उपलब्ध हैं जो शीतकाल में सर्दी से थर-थर काँपते थे। जो लोग उनके आचार, अर्थात् आग जलाकर शीत-निवारण करने के निषेध से परिचित नहीं थे, उन्हें यह शंका भी होती थी कि कहीं उनका शरीर कामावेग में तो नहीं काँप रहा है। यह ज्ञात होने पर कि इनका शरीर सर्दी से काँप रहा है, कभी-कभी वे शरीर को तपाने के लिये आग जला देने को कहते थे, जिसका उन मुनियों को निषेध करना होता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र-प्रवेश के लिये उत्तर भारत की भयंकर सर्दी भी एक मुख्य कारण रही है।

४. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का तीसरा कारण पार्श्व की परम्परा के मुनियों का महावीर की परम्परा में सम्मिलित होना भी है। यह स्पष्ट है कि पार्श्व की परम्परा के मुनि सचेल होते थे। वे अधोवस्त्र और उत्तरीय दोनों ही धारण करते थे। हमें सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती, राजप्रश्नीय आदि में न केवल पार्श्व की परम्परा के मुनियों के उल्लेख मिलते हैं अपितु उनके द्वारा महावीर के संघ में पुनः दीक्षित होने के सन्दर्भ भी मिलते हैं। इन सन्दर्भों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि पार्श्व की परम्परा के कुछ मुनियों ने तो महावीर की परम्परा में सम्मिलित होते समय अचेलकत्व ग्रहण किया, किन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अचेलता को ग्रहण नहीं किया। सम्भव है कुछ पार्श्वापत्यों को सचेल रहने की अनुमति देकर सामायिक चारित्र के साथ महावीर के संघ में सम्मिलित किया गया होगा। इस प्रकार महावीर के जीवनकाल में या उसके कुछ पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ में सचेल-अचेल दोनों प्रकार की एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी थी और पार्श्व की परम्परा में प्रचलित सचेलता को भी मान्यता प्रदान कर दी गयी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में प्रारम्भ में तो मुनि की अचेलता पर ही बल दिया गया था, किन्तु कालान्तर में लोक-लज्जा और शीत-परीषह से बचने के लिये आपवादिक रूप में वस्त्र-ग्रहण को

मान्यता प्रदान कर दी गयी।

श्वेताम्बर मान्य आगमों और दिगम्बरों द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थों में उन आपवादिक स्थितियों का भी उल्लेख है, जिनमें मुनि वस्त्र-ग्रहण कर सकता था।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य स्थानांगसूत्र (३/३/३४७) में वस्त्र-ग्रहण के निम्नलिखित तीन कारणों का उल्लेख उपलब्ध होता है —

१. लज्जा के निवारण के लिये (लिंगोत्थान होने पर लज्जित न होना पड़े, इस हेतु)।

२. जुगुप्सा (घृणा) के निवारण के लिये (लिंग या अण्डकोष विद्रूप होने पर लोग घृणा न करें, इस हेतु)।

३. परीषह (शीत-परीषह) के निवारण के लिये।

स्थानांगसूत्र में वर्णित उपर्युक्त तीन कारणों में प्रथम दो का समावेश लोक-लज्जा में हो जाता है, क्योंकि जुगुप्सा का निवारण भी एक प्रकार से लोक-लज्जा का निवारण ही है। दोनों में अन्तर यह है कि लज्जा का भाव स्वत: में निहित होता है और घृणा दूसरों के द्वारा की जाती है, किन्तु दोनों का उद्देश्य लोकापवाद से बचना है।

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में मान्य, किन्तु मूलत: यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना (७६) की टीका में निम्नलिखित तीन आपवादिक स्थितियों में वस्त्र-ग्रहण की स्वीकृति प्रदान की गयी है —

१. जिसका लिंग (पुरुष-चिह्न) एवं अण्डकोष विद्रूप हो,

२. जो महान् सम्पत्तिशाली अथवा लज्जालु है,

३. जिसके स्वजन मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में निर्ग्रन्थ संघ में मुनि के लिये वस्त्र-ग्रहण एक आपवादिक व्यवस्था ही थी। उत्सर्ग या श्रेष्ठ मार्ग तो अचेलता को ही माना गया था। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आचारांग, स्थानांग और उत्तराध्ययन में न केवल मुनि की अचेलता के प्रतिपादक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं अपितु अचेलता की प्रशंसा भी उपलब्ध होती है। उनमें भी वस्त्र-ग्रहण की अनुमति मात्र लोक-लज्जा के निवारण और शीत-निवारण के लिये ही है। आचारांग में चार प्रकार के मुनियों के उल्लेख हैं — १. अचेल, २. एक वस्त्रधारी, ३. दो वस्त्रधारी और ४. तीन वस्त्रधारी।

१. इनमें अचेल तो सर्वथा नग्न रहते थे। ये जिनकल्पी कहलाते थे।

२. एक वस्त्रधारी भी दो प्रकार के होते थे —

(अ) कुछ एक वस्त्रधारी रहते तो अचेल ही थे, किन्तु अपने पास एक ऊनी वस्त्र रखते थे, जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश के समय लोक-लज्जा के निवारण के लिये और सर्दियों की रात्रियों में शीत-निवारण के लिये करते थे। ये स्थविरकल्पी कहलाते थे।

(ब) कुछ एक वस्त्रधारी मात्र अधोवस्त्र धारण करते थे, जैसे वर्तमान में दिगम्बर परम्परा के ऐलक धारण करते हैं। ऐलक एक चेलक (वस्त्रधारी) का ही अपभ्रंश रूप है। इसे आगम में एकशाटक कहा गया है।

३. दो वस्त्रधारी, जिन्हें सान्तरोत्तर भी कहा गया है, एक अधोवस्त्र व एक उत्तरीय रखते थे जैसे वर्तमान में क्षुल्लक रखते हैं —अधोवस्त्र लोक-लज्जा हेतु और उत्तरीय शीत-निवारण हेतु।

४. तीन वस्त्रधारी अधोवस्त्र और उत्तरीय के साथ-साथ शीत-निवारणार्थ एक ऊनी कम्बल भी रखते होंगे। यह व्यवस्था आज के श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधुओं में है।

आचारांग स्पष्ट रूप से यह उल्लेख करता है कि वस्त्रधारी मुनि वस्त्र के जीर्ण होने पर एवं ग्रीष्मकाल के आगमन पर जीर्ण वस्त्रों का त्याग करते हुए अचेलता की दिशा में आगे बढ़े। तीन वस्त्रधारी क्रमशः अपने परिग्रह को कम करते हुए सान्तरोत्तर अथवा एक शाटक अथवा अचेल हो गए। हम देखते हैं कि आचारांग में वर्णित वस्त्र सम्बन्धी यह व्यवस्था अचेलता का अति-आग्रह रखने वाली दिगम्बर परम्परा में भी मुनि, ऐलक और क्षुल्लक के रूप में आज भी प्रचलित है। उसका क्षुल्लक आचारांग का सान्तरोत्तर है और ऐलक एकशाटक तथा मुनि अचेल है।

श्वेताम्बर परम्परा में परवर्ती काल में भी जो वस्त्र-पात्र का विकास हुआ और वस्त्र-ग्रहण को अपरिहार्य माना गया उसके पीछे मूल में परिग्रह या संचय वृत्ति न होकर देशकालगत परिस्थितियाँ, संघीय जीवन की आवश्यकताएँ एवं संयम अर्थात् अहिंसा की परिपालना ही प्रमुख थी। निर्ग्रन्थ संघ में जब अपरिग्रह महाव्रत के स्थान पर अहिंसा के महाव्रत की परिपालना पर अधिक बल दिया गया तो प्रतिलेखन या पिच्छी से लेकर क्रमशः अनेक उपकरण बढ़ गये। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य कुछ परवर्ती आगमों में मुनि के जिन चौदह उपकरणों का उल्लेख मिलता है उनमें अधिकांश पात्र-पोछन, पटल आदि के कारण होने वाली जीव हिंसा से बचने के लिये ही है। ओघनिर्युक्ति[२७] (६९१) में स्पष्ट उल्लेख है कि जिन ने षट्काय जीवों के रक्षण के लिये ही पात्र ग्रहण की अनुज्ञा दी है।

शारीरिक सुख-सुविधा और प्रदर्शन की दृष्टि से जो वस्त्रादि उपकरणों

का विकास हुआ है वह बहुत ही परवर्ती घटना है और प्राचीन स्तर के मान्य आगमों से समर्थित नहीं है और मुनि आचार का विकृत रूप ही है और यह विकार यति परम्परा के रूप में श्वेताम्बरों और भट्टारक परम्परा के रूप में दिगम्बरों, दोनों में आया है।

किन्तु जो लोग वस्त्र के सम्बन्ध में आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि वस्त्र का ग्रहण एक मनोदैहिक एवं सामाजिक आवश्यकता थी और उससे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ प्रभावित हुई हैं। दिगम्बर परम्परा में ऐलक और क्षुल्लक की व्यवस्था तो इस आवश्यकता की सूचक है ही, किन्तु इसके साथ ही साथ उनमें जो सवस्त्र भट्टारकों की परम्परा का विकास हुआ, उसके पीछे भी उपरोक्त मनोदैहिक कारण और लौकिक परिस्थितियाँ ही मुख्य रहीं। क्या कारण था कि अचेलता की समर्थक इस परम्परा में भी लगभग १००० वर्ष तक नग्न मुनियों का अभाव रहा। आज दिगम्बर परम्परा में शान्तिसागरजी से जो नग्न मुनियों की परम्परा पुनः जीवित हुई है, उसका इतिहास तो १०० वर्ष से अधिक का नहीं है। लगभग ग्यारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक दिगम्बर मुनियों का प्रायः अभाव ही रहा है।

आज इन दोनों परम्पराओं में सचेलता और अचेलता के प्रश्न पर जो इतना विवाद खड़ा कर दिया गया है, वह दोनों की आगमिक व्यवस्थाओं और जीवित परम्पराओं के सन्दर्भ में ईमानदारी से विचार करने पर नगण्य ही रह जाता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने मताग्रहों से न तो आगमिक व्यवस्थाओं को देखने का प्रयत्न करते हैं और न उन कारणों का विचार करते हैं, जिनसे किसी आचार-व्यवस्था में परिवर्तन होता है। दुर्भाग्य है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा ने जिनकल्प के विच्छेद के नाम पर उस अचेलता का अपलाप किया, जो उसके पूर्वज आचार्यों के द्वारा लगभग ईसा की दूसरी शती तक आचरित रही और जिसके सन्दर्भ उनके आगमों में आज भी हैं। वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा में सचेल मुनि ही नहीं होता है, यह कहकर न केवल महावीर की मूल-भूत अनेकान्तिक दृष्टि का उल्लंघन किया गया, अपितु अपने ही आगमों और प्रचलित व्यवस्थाओं को नकार दिया गया। हम पूछते हैं कि क्या ऐलक और क्षुल्लक गृहस्थ हैं और यदि ऐसा माना जाय तो इनके मूल अर्थ का ही अपलाप होगा।

यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही क्षुल्लकों (युवा-मुनि) और स्थविरों (वृद्ध-मुनियों) के लिये वस्त्र-ग्रहण की परम्परा मान्य रही है। क्षुल्लक लोक-लज्जा के लिये और स्थविर (वृद्ध) दैहिक आवश्यकता के लिये वस्त्र-ग्रहण करता है। 'क्षुल्लक मुनि नहीं हैं' यह उद्घोष

केवल एकान्तता का सूचक है। 'क्षुल्लक' शब्द अपने आप में इस बात का सूचक है कि वह प्रारम्भिक स्तर का मुनि है, गृहस्थ नहीं, क्योंकि 'क्षुल्लक' का अर्थ छोटा होता है। वह छोटा मुनि ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं। प्राचीन आगमों में वस्त्रधारी युवा मुनि के लिये ही 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचारांग तथा अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रन्थ संघ में या तो महावीर के जीवनकाल में या निर्वाण के कुछ ही समय पश्चात् सचेल-अचेल मुनियों की एक मिली-जुली व्यवस्था हो गई थी। यह भी सम्भव है कि ऐसी दोहरी व्यवस्था मान्य करने पर परस्पर आलोचना के स्वर भी मुखरित हुए होंगे। यही कारण है कि आचारांग में स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया गया कि अचेल मुनि, एकशाटक, सान्तरोत्तर अथवा तीन वस्त्रधारी मुनि परस्पर एक दूसरे की निन्दा न करें। ज्ञातव्य है कि संघ-भेद का कारण यह मिली-जुली व्यवस्था नहीं थी, अपितु इसमें अपनी-अपनी श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार ही आगे चलकर संघ-भेद का कारण बना है। जब सचेलकों ने अचेलकों की साधना सम्बन्धी विशिष्टता को अस्वीकार किया और अचेलकों ने सचेलक को मुनि मानने से इन्कार किया तो संघ-भेद होना स्वाभाविक ही था।

ऐतिहासिक सत्य तो यह है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् जो निर्ग्रन्थ मुनि दक्षिण बिहार, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश के रास्ते से तमिलनाडु और कर्नाटक में पहुँचे, वे वहाँ की जलवायुगत परिस्थितियों के कारण अपनी अचेलता को यथावत कायम रख सके, क्योंकि वहाँ सर्दी पड़ती ही नहीं है। यद्यपि उनमें भी क्षुल्लक और ऐलक दीक्षाएँ होती रही होंगी, किन्तु अचेलक मुनि को सर्वोपरि मानने के कारण उनमें कोई विवाद नहीं हुआ। दक्षिण भारत में अचेल रहना सम्भव था, इसलिये उसके प्रति आदरभाव बना रहा। फिर भी लगभग पाँचवीं-छठीं शती के पश्चात् वहाँ भी हिन्दू-मठाधीशों के प्रभाव से सवस्त्र भट्टारक परम्परा का क्रमिक विकास हुआ और धीरे-धीरे दसवीं-ग्यारहवीं शती से व्यवहार में अचेलता समाप्त हो गयी। केवल अचेलता के प्रति सैद्धान्तिक आदर भाव बना रहा। आज वहाँ जो दिगम्बर हैं, वे इस कारण दिगम्बर नहीं हैं कि वे नग्न रहते हैं अपितु इस कारण हैं कि अचेलता/दिगम्बरत्व के प्रति उनमें आदर भाव है।

महावीर का जो निर्ग्रन्थ संघ बिहार से पश्चिमोत्तर भारत की ओर आगे बढ़ा, उसमें जलवायु तथा मुनियों की बढ़ती संख्या के कारण वस्त्र-पात्र का विकास हुआ। प्रथम शक, हूण आदि विदेशी संस्कृति के प्रभाव से तथा दूसरे जलवायु के कारण से इस क्षेत्र में नग्नता को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा, जबकि

दक्षिण भारत में नग्नता के प्रति हेय भाव नहीं था। लोक-लज्जा और शीत-निवारण के लिये एक वस्त्र रखा जाने लगा। प्रारम्भ में तो उत्तर भारत का यह निर्ग्रन्थ संघ रहता तो अचेल ही था, किन्तु अपने पास एक वस्त्र रखता था जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश करते समय लोक-लज्जा के निवारण के लिये और शीत ऋतु में सर्दी सहन न होने की स्थिति में ओढ़ने के लिये किया जाता था। मथुरा से अनेक ऐसे अचेल जैन मुनियों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनके हाथ में यह वस्त्र (कम्बल) इस प्रकार प्रदर्शित है कि उनकी नग्नता छिप जाती है। उत्तर भारत में निर्ग्रन्थों, मुनियों की इस स्थिति को ही ध्यान में रखकर सम्भवत: पालित्रिपिटक में निर्ग्रन्थों को एकशाटक कहा गया है। हमें प्राचीन अर्थात् ईसा की पहली-दूसरी शती के जो भी साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में शीत और लोक-लज्जा के लिये वस्त्र ग्रहण किया जाता था। श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं से जो सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनसे भी यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र का प्रवेश होते हुए भी महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग छ: सौ वर्ष तक अचेलकत्व उत्सर्ग या श्रेष्ठमार्ग के रूप में मान्य रहा है।

श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या साहित्य से ही हमें यह भी सूचना मिलती है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के अनेक आचार्यों ने समय-समय पर वस्त्र ग्रहण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के विरोध में अपने स्वर मुखरित किये थे। आर्य भद्रबाहु के पश्चात् भी उत्तर-भारत के निर्ग्रन्थ संघ में आर्य महागिरि, आर्य शिवभूति, आर्य रक्षित आदि ने वस्त्रवाद का विरोध किया था। ज्ञातव्य है कि इन सभी को श्वेताम्बर परम्परा अपने पूर्वाचार्यों के रूप में ही स्वीकार करती है। मात्र यही नहीं, इनके द्वारा वस्त्रवाद के विरोध का उल्लेख भी करती है। इस सबसे यही फलित होता है उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा में आगे चलकर वस्त्र को जो अपरिहार्य मान लिया गया और वस्त्रों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह एक परवर्ती घटना है और वही संघ-भेद का मुख्य कारण भी है।

जैन साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ मुनियों के द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने के सम्बन्ध में यथार्थ स्थिति का ज्ञान जैनेतर साक्ष्यों से भी उपलब्ध होता है, जो अति महत्त्वपूर्ण है। इनमें सबसे प्राचीन सन्दर्भ पालि-त्रिपिटक का है। पालित्रिपिटक में प्रमुख रूप से दो ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ निर्ग्रन्थ की वस्त्र-सम्बन्धी स्थिति का संकेत मिलता है। प्रथम सन्दर्भ तो निर्ग्रन्थ का विवरण देते हुए स्पष्टतया यह कहता है कि निर्ग्रन्थ एकशाटक थे[२८], इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के समय या कम से कम पालित्रिपिटक के रचनाकाल अर्थात्

ई० पू० तृतीय-चतुर्थ शती में निर्ग्रन्थों में एक वस्त्र का प्रयोग होता था, अन्यथा उन्हें एकशाटक कभी नहीं कहा जाता। जहाँ आजीवक सर्वथा नग्न रहते थे, वहाँ निर्ग्रन्थ एक वस्त्र रखते थे। इससे यही सूचित होता है कि वस्त्र ग्रहण की परम्परा अति प्राचीन है। पुनः निर्ग्रन्थ के एकशाटक होने का यह उल्लेख पालित्रिपिटक में ज्ञातृपुत्र महावीर की चर्चा के प्रसंग में हुआ है। अतः सामान्य रूप से इसे पार्श्व की परम्परा कह देना भी ठीक नहीं होगा। फिर भी यदि इसमें चातुर्याम की अवधारणा के उल्लेख के आधार पर इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित मानें तो भी इतना अवश्य है कि महावीर के संघ में पार्श्वापत्यों के प्रवेश के साथ-साथ वस्त्र का प्रवेश हो गया था। चाहे निर्ग्रन्थ परम्परा पार्श्व की रही हो या महावीर की, यह निर्विवाद है कि निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही वस्त्र के सम्बन्ध में वैकल्पिक व्यवस्था मान्य रही है, फिर चाहे वह अपवाद मार्ग के रूप में या स्थविर कल्प के रूप में ही क्यों न हो।

पालित्रिपिटक[२९] के एक अन्य प्रसंग में महावीर के स्वर्गवास के पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ के पारस्परिक कलह और उसके दो भागों में विभाजित होने का निम्न उल्लेख मिलता है। वे एक-दूसरे की आलोचना करते हुए कहते थे — "तू इस धर्म विनय को नहीं जानता। मैं इस धर्म विनय को जानता हूँ। तू क्या इस धर्म विनय को जानेगा ? आदि-आदि।" इस विवाद के सम्बन्ध में विद्वानों में दो प्रकार के मत हैं। मुनि कल्याणविजयजी आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह विवरण महावीर के जीवन-काल में ही उनके और गोशालक के बीच हुए उस विवाद का सूचक है, जिसके कारण महावीर के निर्वाण का प्रवाद भी प्रचलित हो गया था। भगवतीसूत्र[३०] में हमें इस विवाद का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमें वस्त्रादि के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं है। मात्र महावीर पर यह आरोप है कि वे पहले अकेले वन में निवास करते थे, अब संघ सहित नगर या गाँव के उपान्त में निवास करते हैं और तीर्थङ्कर न होकर भी अपने को तीर्थङ्कर कहते हैं। किन्तु इस विवाद के प्रसंग में, जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि पालित्रिपिटक में इसका सम्बन्ध धर्म-विनय से जोड़ा गया है और औदात्त अर्थात् श्रेष्ठ वस्त्र धारण करने वाले निर्ग्रन्थ श्रावकों को इस विवाद से उदासीन बताया गया है।[३१] इससे इतना तो अवश्य प्रतिफलित होता है कि विवाद का मूलभूत विषय धर्म विनय अर्थात् श्रमणाचार से ही सम्बन्धित रहा होगा। अतः उसका एक पक्ष वस्त्र-पात्र रखने या न रखने से सम्बन्धित हो सकता है।

इन समस्त चर्चाओं से यह प्रतिफलित होता है कि सचेलता और अचेलता की समस्या निर्ग्रन्थ संघ की एक पुरानी समस्या है और इसका

आविर्भाव पार्श्व और महावीर के निर्ग्रन्थ संघ के सम्मेलन के साथ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि जहाँ एक ओर आजीवकों की अचेलता ने महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थान पाया, वहीं पार्श्व की सचेल परम्परा ने भी उसे प्रभावित किया। परिणामस्वरूप वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार की गई। उत्सर्ग मार्ग में अचेलता को स्वीकार करते हुए भी आपवादिक स्थितियों में वस्त्र-ग्रहण की अनुमति दी गयी। पालित्रिपिटक में आजीवकों को सर्वथा अचेलक और निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहा गया है और इसी आधार पर वे आजीवकों और निर्ग्रन्थ में अन्तर भी करते हैं और आजीवकों के लिये 'अचेलक' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। धम्मपद की टीका में बुद्धघोष कहते हैं कि कुछ भिक्षु अचेलकों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ को वरेण्य समझते हैं क्योंकि अचेलक तो सर्वथा नग्न रहते हैं, जबकि निर्ग्रन्थ प्रतिच्छादन रखते हैं।[१२] बुद्धघोष के इस उल्लेख से भी यह प्रतिफलित होता है कि निर्ग्रन्थ नगर प्रवेश आदि के समय जो एक वस्त्र (प्रतिच्छादन) रखते थे, उससे अपनी नग्नता छिपा लेते थे। इस प्रकार मूल त्रिपिटक में निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहना, पुनः बुद्धघोष द्वारा उनके द्वारा प्रतिच्छादन रखने का उल्लेख करना और मथुरा से प्राप्त निर्ग्रन्थ मुनियों के अंकन में उन्हें एक वस्त्र से अपनी नग्नता छिपाते हुए दिखाना — ये सब साक्ष्य यही सूचित करते हैं कि उत्तर भारत में निर्ग्रन्थ संघ में कम से कम ई० पू० चौथी-तीसरी शताब्दी में एक वस्त्र रखा जाता था और यह प्रवृत्ति बुद्धघोष के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भी प्रचलित थी।

वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीय दृष्टिकोण

यापनीय परम्परा का एक प्राचीन ग्रन्थ भगवतीआराधना है। इसमें दो प्रकार के लिंग बताये गये हैं — १. उत्सर्गलिंग (अचेल) और २. अपवादलिंग (सचेल)। आराधनाकार स्पष्ट रूप से कहता है कि संलेखना ग्रहण करते समय उत्सर्गलिंगधारी अचेल श्रमण का तो उत्सर्गलिंग अचेलता ही होता है, अपवाद-लिंगधारी सचेल श्रमण का भी यदि लिंग प्रशस्त है तो उसे भी उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व ग्रहण करना चाहिये। टीकाकार अपराजित ने यहाँ उत्सर्गलिंग का अर्थ स्पष्ट करते हुए सकल परिग्रह त्यागरूप अचेलकत्व के ग्रहण को ही उत्सर्ग-लिंग कहा है। इसी प्रकार अपवाद की व्याख्या करते हुए कारण सहित परिग्रह को अपवादलिंग कहा है। अगली गाथा की टीका में उन्होंने स्पष्ट रूप से सचेललिंग को अपवादलिंग कहा है। इसके अतिरिक्त आराधनाकार शिवार्य एवं टीकाकार अपराजित ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिनका पुरुष-चिह्न अप्रशस्त हो अर्थात् लिंग चर्मरहित हो, अतिदीर्घ हो, अण्डकोष अतिस्थूल हो तथा लिंग बार-बार

उत्तेजित होता हो तो उन्हें सामान्य दशा में तो अपवादलिंग अर्थात् सचेललिंग ही देना होता है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों को भी संलेखना के समय एकान्त में उत्सर्ग-लिंग अर्थात् अचेलकत्व प्रदान किया जा सकता है। किन्तु उसमें सभी अपवाद-लिंगधारियों को संलेखना के समय अचेललिंग ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना गया है। आगे वे स्पष्ट लिखते हैं कि जिनके स्वजन महान सम्पत्तिशाली, लज्जा-शील और मिथ्यादृष्टि अर्थात् जैनधर्म को नहीं मानने वाले हों, ऐसे व्यक्तियों के लिये न केवल सामान्य दशा में अपितु संलेखना के समय भी अपवादलिंग अर्थात् सचेलता ही उपयुक्त होता है।

इस समग्र चर्चा से स्पष्टत: यह फलित होता है कि यापनीय सम्प्रदाय उन व्यक्तियों को, जो समृद्धिशाली परिवारों से हैं, जो लज्जालु हैं तथा जिनके परिजन मिथ्यादृष्टि हैं अथवा जिनके पुरुषचिह्न अर्थात् लिंग चर्मरहित हैं, अतिदीर्घ हैं, अण्डकोष स्थूल हैं एवं लिंग बार-बार उत्तेजित होता है, कों अपवादिक लिंग धारण करने का निर्देश करता है। इस प्रकार वह यह मानता है कि उपर्युक्त विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति सचेल लिंग धारण कर सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि यापनीय परम्परा यद्यपि अचेलकत्व पर बल देती थी और यह भी मानती थी कि समर्थ साधक को अचेललिंग ही धारण करना चाहिए किन्तु उसके साथ-साथ वह यह मानती थी कि आपवादिक स्थितियों में सचेल लिंग भी धारण किया जा सकता है। यहाँ उसका श्वेताम्बर परम्परा से स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा जिनकल्प का विच्छेद बताकर अचेललिंग का निषेध कर रही थी, वहाँ यापनीय परम्परा समर्थ साधक के लिये हर युग में अचेलता का समर्थन करती है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र-ग्रहण को सामान्य नियम या उत्सर्ग मार्ग मानने लगी वहाँ यापनीय परम्परा उसे अपवाद मार्ग के रूप में ही स्वीकार करती रही, अत: उसके अनुसार आगमों में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देश हैं, वे मात्र आपवादिक स्थितियों के हैं। दुर्भाग्य से मुझे यापनीय ग्रन्थों में इस तथ्य का कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं मिला कि आपवादिक लिंग में उन्हें कितने वस्त्र या पात्र रखे जा सकते थे।

यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना[११] की टीका में यापनीय आचार्य अपराजित सूरि लिखते हैं कि चेल (वस्त्र) का ग्रहण, परिग्रह का उपलक्षण है, अत: समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग ही आचेलक्य है। आचेलक्य के लाभ या समर्थन में आगे वे लिखते हैं —

१. अचेलकत्व के कारण त्याग धर्म (दस धर्मों में एक धर्म) में प्रवृत्ति होती है।

२. जो अचेल होता है, वही अकिंचन धर्म के पालन में तत्पर होता है।

३. परिग्रह (वस्त्रादि) के लिये हिंसा (आरम्भ) में प्रवृत्ति होती है, जो अपरिग्रही है, वही हिंसा (आरम्भ) नहीं करता है। अतः पूर्ण अहिंसा के पालन के लिये अचेलता आवश्यक है।

४. परिग्रह के लिये ही झूठ बोला जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के अभाव में झूठ बोलने का कोई कारण नहीं होता, अतः अचेल-मुनि सत्य ही बोलता है।

५. अचेल में लाघव भी होता है।

६. अचेलधर्म का पालन करने वाले का अदत्त का त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होने पर ही बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने में प्रवृत्ति होती है।

७. परिग्रह के निमित्त कषाय (क्रोध) होता है, अतः परिग्रह के अभाव में क्षमा भाव रहता है।

८. अचेल को सुन्दर या सम्पन्न होने का मद भी नहीं होता, अतः उसमें आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

९. अचेल में माया (छिपाने की प्रवृत्ति) नहीं होती, अतः उसके आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

१०. अचेल शीत, उष्ण, दंश, मच्छर आदि परीषहों को सहता है, अतः उसे घोर तप भी होता है।

संक्षेप में अचेलकत्व के पालन में सभी दस श्रमण धर्मों एवं पंच महाव्रतों का पालन होता है।

पुनः अचेलकत्व की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं —

१. अचेलता से शुद्ध संयम का पालन होता है, पसीने, धूल और मैल से युक्त वस्त्र में उसी योनि वाले और उसके आश्रय से रहने वाले त्रस जीव तथा स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं। वस्त्र धारण करने से उन्हें बाधा भी उत्पन्न होती है। जीवों से संसक्त वस्त्र धारण करने वाले के द्वारा उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, धोने, कूटने, धूप में डालने से जीवों को बाधा (पीड़ा) होती है, जिससे महान् असंयम होता है।

२. अचेलता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार सर्पों से युक्त जंगल में व्यक्ति बहुत सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह इन्द्रियों (कामवासना) पर विजय प्राप्त करने में पूर्णतया सावधान रहता है

क्योंकि ऐसा नहीं करने पर शरीर में विकार (कामोत्तेजना) उत्पन्न होने पर लज्जित होना पड़ता है।

३. अचेलता का तीसरा गुण कषायरहित होना है, क्योंकि वस्त्र के सद्भाव में उसे चोरों से छिपाने के लिये मायाचार करना होता है। वस्त्र होने पर मेरे पास सुन्दर वस्त्र है, ऐसा अहंकार भी हो सकता है, वस्त्र के छीने जाने पर क्रोध तथा उसकी प्राप्ति में लोभ भी हो सकता है जबकि अचेलक में ऐसे दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

४. सवस्त्र होने पर सुई, धागा, वस्त्र आदि की खोज में तथा उसके सीने, धोने, प्रतिलेखना आदि करने में ध्यान और स्वाध्याय का समय नष्ट होता है। अचेल को ध्यान-स्वाध्याय में बाधा नहीं होती।

५. जिस प्रकार बिना छिलके (आवरण) का धान्य नियम से शुद्ध होता है, किन्तु छिलकेयुक्त धान्य की शुद्धि नियम से नहीं होती, वह भाज्य होती है, उसी प्रकार जो अचेल है उसकी शुद्धि निश्चित होती है, किन्तु सचेल की शुद्धि भाज्य है (एवमचेलवतिनियमादेव भाज्या सचेले, भगवतीआराधना-४२३ पर विजयोदया टीका, पृ० ३२२), अर्थात् सचेल की शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यहाँ दिगम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा का अन्तर स्पष्ट है। दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि सचेल मुक्त (शुद्ध) नहीं हो सकता, चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो जबकि यापनीय परम्परा यह मानती है कि स्त्री, गृहस्थ और अन्यतैर्थिक सचेल होकर भी मुक्त हो सकते हैं। यहाँ भाज्य (विकल्प) शब्द का प्रयोग यापनीयों की उदार और अनेकान्तिक दृष्टि का परिचायक है।

६. अचेलता में राग-द्वेष का अभाव होता है। राग-द्वेष बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है। परिग्रह के अभाव में आलम्बन का अभाव होने से राग-द्वेष नहीं होते, जबकि सचेल को मनोज्ञ वस्त्र के प्रति राग-भाव हो सकता है।

७. अचेलक शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, तभी तो वह शीत और ताप के कष्ट सहन करता है।

८. अचेलता में स्वावलम्बन होता है और देशान्तर गमन में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों के सहारे चल देता है, वैसे ही वह भी प्रतिलेखन (पीछी) लेकर चल देता है।

९. अचेलता में चित्त-विशुद्धि प्रकट करने का गुण है — लँगोटी आदि से ढँकने से भाव-शुद्धि का ज्ञान नहीं होता है।

१०. अचेलता में निर्भयता है, क्योंकि चोर आदि का भय नहीं रहता।

११. सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। न तो वह किसी पर शंका करता है और न कोई उस पर शंका करता है।

१२. अचेलता में प्रतिलेखना का अभाव होता है। चौदह प्रकार का परिग्रह रखने वालों को जैसी प्रतिलेखना करनी होती है वैसी अचेल को नहीं करनी होती।

१३. सचेल को लपेटना, छोड़ना, सीना, बाँधना, धोना, रँगना आदि परिकर्म करने होते हैं जबकि अचेल को ये परिकर्म नहीं करने होते।

१४. तीर्थङ्करों के अनुरूप आचरण करना (जिनकल्प का आचरण) भी अचेलता का एक गुण है। क्योंकि संहनन और बल से पूर्ण सभी तीर्थङ्कर अचेल थे और भविष्य में भी अचेल ही होंगे। जिनप्रतिमा और गणधर भी अचेल होते हैं और उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। जो सवस्त्र है वह जिन के अनुरूप नहीं है, अर्थात् जिनकल्प का पालन नहीं करता है।

१५. अचेल ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है। यदि अपने शरीर को वस्त्र से वेष्टित करके भी अपने को निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तो फिर अन्य परम्परा के साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कहे जायेंगे अर्थात् उन्हें भी निर्ग्रन्थ मानना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से अचेलकत्व की समर्थक है। किन्तु उनके सामने एक समस्या यह थी कि वे आज श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत उन आगमों की माथुरी वाचना को मान्य करते थे, जिनमें वस्त्र-पात्रादि ग्रहण करने के स्पष्ट उल्लेख थे। अतः उनके समक्ष दो प्रश्न थे — एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करना और दूसरी ओर आगमिक उल्लेखों की अचेलकत्व के सन्दर्भ में सम्यक् व्याख्या करना। अपराजित सूरि ने इस सम्बन्ध में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में जो सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह अचेलकत्व के आदर्श के सम्बन्ध में यापनीयों की यथार्थ दृष्टि का परिचायक है।

अपराजित ने सर्वप्रथम आगमों के उन सन्दर्भों को प्रस्तुत किया है, जिनमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेख हैं, फिर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं — 'आचारप्रणिधि' अर्थात् दशवैकालिक[३४] के आठवें अध्याय में कहा गया है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करनी चाहिए। यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना का कथन क्यों किया जाता ? पुनः आचारांग[३५] के 'लोक-विचय' नामक दूसरे अध्ययन के पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि प्रतिलेखन (पडिलेहण), पादप्रोंछन (पायपुच्छन), अवग्रह (उग्गह), कटासन

(कडासण), चटाई आदि की याचना करें। पुनः उसके 'वस्त्रैषणा'[36] अध्ययन में कहा गया है कि जो लज्जाशील है वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना हेतु रखे। जुंगित (देश-विशेष) में दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखना हेतु रखे, यदि (शीत) परीषह सहन नहीं हो तो तीन वस्त्र धारण करें और चौथा प्रतिलेखना हेतु रखे। पुनः उसके पात्रैषणा[37] में कहा गया है कि लज्जाशील, जुंगित अर्थात् जिसके लिंग आदि हीनाधिक हों तथा पात्रादि रखने वाले के लिये वस्त्र रखना कल्पता है। पुनः उसमें कहा गया है तुम्बी का पात्र, लकड़ी का पात्र अथवा मिट्टी का पात्र यदि जीव, बीजादि से रहित हो तो ग्राह्य है। यदि वस्त्र-पात्र ग्राह्य नहीं होते तो फिर ये सूत्र आगम में क्यों आते ? पुनः आचारांग[38] के 'भावना' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भगवान् एक वर्ष तक चीवरधारी रहे, उसके बाद अचेल हो गये। साथ ही सूत्रकृतांग[39] के 'पुण्डरीक' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भिक्षु, वस्त्र और पात्र के लिये धर्मकथा न कहे। निशीथ[40] में कहा गया है कि जो भिक्षु अखण्ड-वस्त्र और कम्बल धारण करता है उसे मास-लघु (प्रायश्चित्त का एक प्रकार) प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार आगम में वस्त्र-ग्रहण की अनुज्ञा होने पर भी अचेलता का कथन क्यों किया जाता है ? इसका समाधान करते हुए स्वयं अपराजितसूरि कहते हैं[41] कि आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है, यदि भिक्षु लज्जालु है अथवा उसकी जननेन्द्रिय त्वचारहित हो या अण्डकोष लम्बे हों अथवा वह परीषह (शीत) सहन करने में अक्षम हो तो उसे वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा है। आचारांग[42] में ही कहा गया है कि संयमाभिमुख स्त्री-पुरुष दो प्रकार के होते हैं — सर्वश्रमणागत और नो-सर्वश्रमणागत। उनमें सर्वश्रमणागत स्थिरांग वाले पाणि-पात्र भिक्षु को प्रतिलेखन के अतिरिक्त एक भी वस्त्र धारण करना या छोड़ना नहीं कल्पता है। बृहत्कल्पसूत्र[43] में भी कहा गया है कि लज्जा के कारण अंगों के ग्लानियुक्त होने पर देह के जुंगित (वीभत्स) होने पर अथवा परीषह (शीतपरीषह) सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे। पुनः आचारांग[44] में यह भी कहा गया है यदि ऐसा जाने की शीतऋतु (हेमन्त) समाप्त हो गयी है तो जीर्ण वस्त्र प्रतिस्थापित कर दे अर्थात् उनका त्याग कर दे। इस प्रकार (आगमों में) कारण की अपेक्षा से वस्त्र का ग्रहण कहा है। जो उपकरण कारण की अपेक्षा से ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण करने की विधि और गृहीत उपकरण का त्याग अवश्य कहा जाता है। अतः आगम में वस्त्र-पात्र की जो चर्या बतायी गयी है वह कारण की अपेक्षा से अर्थात् आपवादिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय संघ मात्र आपवादिक स्थिति में

वस्त्र-ग्रहण को स्वीकार करता था और उत्सर्ग मार्ग अचेलता को ही मानता था। आचारांग के 'भावना' नामक अध्ययन में महावीर के एक वर्ष तक वस्त्र युक्त होने के उल्लेख को वह विवादास्पद मानता था। अपराजित ने इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रवादों का उल्लेख भी किया है[४५] — जैसे कुछ कहते हैं कि वह छः मास में काँटे, शाखा आदि से छिन्न हो गया। कुछ कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक होने पर उस वस्त्र को खण्डलक नामक ब्राह्मण ने ले लिया। कुछ कहते हैं कि वह वस्त्र वायु से गिर गया और भगवान् ने उसकी उपेक्षा कर दी। कोई कहते हैं कि विलम्बनकारी ने उसे जिन के कन्धे पर रख दिया आदि। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण अपराजित की दृष्टि में इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। पुनः अपराजित ने आगम से अचेलता के समर्थक अनेक सूत्र भी उद्धृत किये हैं,[४६] यथा — "वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र-ग्रहण नहीं करता तथा अचेल होकर जिन रूप धारण करता है। भिक्षु यह नहीं सोचे कि सचेलक सुखी होता है और अचेलक दुःखी होता है, अतः मैं सचेलक हो जाऊँ। अचेल को कभी शीत बहुत सताती है, फिर भी वह धूप का विचार न करे। मुझ निरावरण के पास कोई छादन नहीं है, अतः मैं अग्नि का सेवन कर लूँ ऐसा भी नहीं सोचे।" इसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय की गाथायें उद्धृत करके यह बताया कि पार्श्व का धर्म सान्तरोत्तर था। महावीर का धर्म तो अचेलक ही था। पुनः दशवैकालिक में मुनि को नग्न और मुण्डित कहा गया है। इससे भी आगम में अचेलता ही प्रतिपाद्य है — यह सिद्ध होता है।

इस समग्र चर्चा के आधार पर यापनीय संघ का वस्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उनके इस दृष्टिकोण को संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है —

१. श्वेताम्बर परम्परा, जो जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा के द्वारा वस्त्र आदि के सम्बन्ध में महावीर की वैकल्पिक व्यवस्था को समाप्त करके सचेलकत्व को ही एक मात्र विकल्प बना रही थी, यह बात यापनीयों को मान्य नहीं थी।

२. यापनीय यह मानते थे कि जिनकल्प का विच्छेद सुविधावादियों की अपनी कल्पना है। समर्थ साधक इन परिस्थितियों में या इस युग में भी अचेल रह सकता है। उनके अनुसार अचेलता (नग्नता) ही जिन का आदर्श मार्ग है, अतः मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये।

३. यापनीय आपवादिक स्थितियों में ही मुनि के लिये वस्त्र की ग्राह्यता को स्वीकार करते थे, उनकी दृष्टि में ये आपवादिक स्थितियाँ निम्नलिखित थीं —

(क) राज-परिवार आदि अतिकुलीन घराने के व्यक्ति जन साधारण के समक्ष नग्नता छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

(ख) इसी प्रकार वे व्यक्ति भी जो अधिक लज्जाशील हैं अपनी नग्नता को छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

(ग) वे नवयुवक मुनि जो अभी अपनी काम-वासना को पूर्णतः विजित नहीं कर पाये हैं और जिन्हें लिंगोत्तेजन आदि के कारण निर्ग्रन्थ संघ में और जनसाधारण में प्रवाद का पात्र बनना पड़े, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(घ) वे व्यक्ति जिनके लिंग और अण्डकोष विद्रूप हैं, वे संलेखना के अवसर को छोड़कर यावज्जीवन वस्त्र धारण करके ही रहें।

(च) वे व्यक्ति जो शीतादि परीषह सहन करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(छ) वे मुनि जो अर्श, भगन्दर आदि की व्याधि से ग्रस्त हों, बीमारी की स्थिति में वस्त्र रख सकते हैं।

४. जहाँ तक साध्वियों का प्रश्न था यापनीय संघ में स्पष्ट रूप से उन्हें वस्त्र रखने की अनुज्ञा थी। यद्यपि साध्वियाँ भी एकान्त में संलेखना के समय जिन-मुद्रा अर्थात् अचेलता धारण कर सकती थीं।

इस प्रकार यापनीयों का आदर्श अचेलकत्व ही रहा, किन्तु अपवाद मार्ग में उन्होंने वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता भी स्वीकार की। वे यह मानते हैं कि कषाय त्याग और रागात्मकता को समाप्त करने के लिये सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, जिसमें वस्त्र-त्याग भी समाहित है, आवश्यक है, किन्तु वे दिगम्बर परम्परा के समान एकान्त रूप से यह घोषणा नहीं करते हैं कि वस्त्रधारी चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों नहीं हो, मुक्त नहीं हो सकता। वे सवस्त्र में भी आध्यात्मिक विशुद्धि और मुक्ति की भजनीयता अर्थात् सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे अचेलकत्व सम्बन्धी मान्यता के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के निकट खड़े होकर भी अपना भिन्न मत रखते हैं। वे अचेलकत्व के आदर्श को स्वीकार करके भी सवस्त्र मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। पुनः मुनि के लिये अचेलकत्व का पुरजोर समर्थन करके भी वे यह नहीं कहते हैं कि जो आपवादिक स्थिति में वस्त्र धारण कर रहा है, वह मुनि नहीं है। जहाँ हमारी वर्तमान दिगम्बर परम्परा मात्र लँगोटीधारी ऐलक, एक चेलक या दो वस्त्रधारी क्षुल्लक को मुनि न मानकर उत्कृष्ट श्रावक ही मानती है, वहाँ यापनीय परम्परा ऐसे व्यक्तियों की गणना मुनि वर्ग के अन्तर्गत ही करती है। अपराजित आचारांग का एक सन्दर्भ देकर, जो

वर्तमान आचारांग में नहीं पाया जाता है, कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति नो-सर्वश्रमणागत हैं। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र मुनि अंशत: श्रमण भाव को प्राप्त हैं। इस प्रकार यापनीय आपवादिक स्थितियों में परिस्थितिवश वस्त्र-ग्रहण करने वाले श्रमणों को श्रमण ही मानते हैं, गृहस्थ नहीं। यद्यपि यापनीय और दिगम्बर दोनों ही अचेलकत्व के समर्थक हैं, फिर भी वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीयों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार एवं यथार्थवादी रहा है। आपवादिक स्थिति में वस्त्र-ग्रहण, सचेल की मुक्ति की सम्भावना, सचेल स्त्री और पुरुष दोनों में श्रमणत्व या मुनित्व का सद्भाव — उन्हें अचेलता के प्रश्न पर दिगम्बर परम्परा से भिन्न करता है, जबकि आगमों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख मात्र आपवादिक स्थिति के सूचक हैं और जिनकल्प का विच्छेद नहीं हैं, यह बात उन्हें श्वेताम्बरों से अलग करती थी।

जिनकल्प एवं स्थविरकल्प

अचेलकत्व एवं सचेलकत्व सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसंग में जिनकल्प और स्थविरकल्प की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में जिनकल्प और स्थविरकल्प की जो चर्चा मिलती है, उससे यह फलित होता है कि प्रारम्भ में अचेलता अर्थात् नग्नता को जिनकल्प का प्रमुख लक्षण माना गया है, किन्तु कालान्तर में जिनकल्प शब्द की व्याख्या में क्रमश: परिवर्तन हुआ है। जिनकल्पी की कम से कम दो उपधि मुखवस्त्रिका और रजोहरण मानी गईं किन्तु ओघनिर्युक्ति के लिये जिनकल्प शब्द का सामान्य अर्थ तो जिन के अनुसार आचरण करना है। जिनकल्प की बारह उपधियों का भी उल्लेख है। कालान्तर में श्वेताम्बर आचार्यों ने इन साधुओं को जिनकल्पी कहा जो गच्छ का परित्याग करके एकाकी विहार करते थे तथा उत्सर्ग मार्ग के ही अनुगामी होते थे। वस्तुत: जब श्वेताम्बर परम्परा में अचेलता का पोषण किया जाने लगा तो जिनकल्प की परिभाषा में भी अन्तर हुआ। निशीथचूर्णि में जिनकल्प और स्थविरकल्प की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिनकल्प में मात्र उत्सर्ग मार्ग का ही अनुसरण किया जाता है। अत: उसमें कल्पप्रतिसेवना और दर्पप्रतिसेवना दोनों का अर्थात् अपवाद के अवलम्बन का ही निषेध है जबकि स्थविरकल्प में उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही मार्ग स्वीकार किये गए हैं। यद्यपि अपवाद मार्ग में भी मात्र कल्पप्रतिसेवना को ही मान्य किया गया है। दर्पप्रतिसेवना को किसी भी स्थिति में मान्य नहीं किया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में प्रारम्भ में तो भगवान् महावीर के समान नग्नता को ग्रहण कर, कर-पात्र में भोजन ग्रहण करते हुए अपवाद रहित जो मुनि धर्म की कठिन साधना की जाती है, उसे ही जिनकल्प कहा गया है

किन्तु कालान्तर में इस परिभाषा में परिवर्तन हुआ।

यापनीय परम्परा में जिनकल्प का उल्लेख हमें भगवतीआराधना और उसकी विजयोदया टीका में मिलता है। उसमें कहा गया है कि "जो राग-द्वेष और मोह को जीत चुके हैं, उपसर्ग को सहन करने में समर्थ हैं, जिन के समान एकाकी विहार करते हैं, वे जिनकल्पी कहलाते हैं।" क्षेत्र आदि की अपेक्षा से विवेचन करते हुए उसमें आगे कहा गया है कि जिनकल्पी सभी कर्मभूमियों और सभी कालों में होते हैं। इसी प्रकार चारित्र की दृष्टि से वे सामायिक और छेदो-पस्थापनीय चारित्र वाले होते हैं। वे सभी तीर्थङ्करों के तीर्थ में पाए जाते हैं और जन्म की अपेक्षा से ३० वर्ष की वय और मुनि-जीवन की अपेक्षा से १९ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले होते हैं। ज्ञान की दृष्टि से नव-दस पूर्व ज्ञान के धारी होते हैं। वे तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं और वज्रऋषभ नाराच-संहनन के धारक होते हैं।[४७]

अपराजित के अतिरिक्त जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख यापनीय आचार्य शाकटायन के स्त्रीमुक्तिप्रकरण में भी है।[४८] इससे यह प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अवधारणा श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों परम्पराओं में लगभग समान ही थी। मुख्य अन्तर यह है कि यापनीय परम्परा में जिनकल्पी के द्वारा वस्त्र-ग्रहण का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि उसमें मुनि के लिये वस्त्र-पात्र की स्वीकृति केवल अपवाद मार्ग में है, उत्सर्ग मार्ग में नहीं और जिनकल्पी उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करता है। अतः यापनीय परम्परा के अनुसार वह किसी भी स्थिति में वस्त्र-पात्र नहीं रख सकता। वह अचेल ही रहता है और पाणि-पात्री होता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों के अनुसार जिनकल्पी अचेल भी होता है और सचेल भी। वे पाणि-पात्री भी होते हैं और सपात्र भी होते हैं। ओघनिर्युक्ति (गाथा ७८-७९) में उपधि (सामग्री) के आधार पर जिनकल्प के भी अनेक भेद किये गए हैं।

इसी प्रकार निशीथभाष्य में भी जिनकल्पी की उपाधि को लेकर विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि पात्र की अपेक्षा से जिनकल्पी दो प्रकार के होते हैं — पाणिपात्र अर्थात् बिना पात्र वाले और पात्रधारी। इसी प्रकार वस्त्र की अपेक्षा से भी उसमें जिनकल्पियों के दो प्रकार बताए गए हैं —अचेलक और सचेलक। पुनः इनकी उपाधि की चर्चा करते हुए कहा बया है कि अचेलक और पाणिपात्रभोजी जिनकल्पी होते हैं वे रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते हैं। जो सपात्र और सवस्त्र होते हैं उनकी उपधि की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक बारह होती है। स्थविरकल्पी

की जिन चौदह उपधियों का उल्लेख किया गया है उनमें मात्रक और चूलपट्टक ये दो उपधि जिनकल्पी नहीं रखते हैं।[४१]

यापनीयों की दूसरी विशेषता यह है कि वे श्वेताम्बरों के समान जिन-कल्प का विच्छेद नहीं मानते। उनके अनुसार समर्थ साधक सभी कालों में जिन-कल्प को धारण कर सकते हैं, जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार जिनकल्पी केवल तीर्थङ्कर की उपस्थिति में ही होता है। यद्यपि यापनीयों की इस मान्यता में उनकी ही व्याख्यानुसार एक अन्तर्विरोध आता है, क्योंकि उन्होंने अपनी जिनकल्पी की व्याख्या में यह माना है कि जिनकल्पी नौ-दस पूर्वधारी और प्रथम संहनन के धारक होते हैं। चूँकि उनके अनुसार भी वर्तमान में पूर्व ज्ञान और प्रथम संहनन (वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन) का अभाव है, अतः जिनकल्प सर्वकालों में कैसे सम्भव होगा। इन दो-तीन बातों को छोड़कर यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में जिनकल्प के सम्बन्ध में विशेष अन्तर नहीं है। विशेष जानकारी के लिये भगवती-आराधना की टीका और बृहत्कल्पभाष्य के तत्सम्बन्धी विवरणों को देखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि दिगंम्बर-ग्रन्थ गोम्मटसार और यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना की टीका में जिनकल्प को लेकर एक महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह कि जहाँ गोम्मटसार में जिनकल्पी मुनि को मात्र सामायिक चारित्र माना गया है, वहाँ भगवतीआराधना में उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्र माने गए हैं। वस्तुतः यह अन्तर इसलिये आया कि जब दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थापनीय चारित्र का अर्थ महाव्रतारोपण से भिन्न होकर प्रायश्चित्त रूप पूर्व दीक्षा पर्याय के छेद के अर्थ में लिया गया, तो जिनकल्पी में प्रायश्चित्त रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र का निषेध मानना आवश्यक हो गया, क्योंकि जिन-कल्पी की साधना निरपवाद होती है। हमें जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख प्रायः श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्परा में ही देखने को मिला है। दिगम्बर परम्परा में यापनीय प्रभावित ग्रन्थों को छोड़कर प्रायः इस चर्चा का अभाव ही है।

सन्दर्भ

१. णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिण वरिंदेहि ।
   एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ।। सूत्रप्राभृत, १०
२. एगयाएचेलए होइ सचेले यावि एगया । उत्तराध्ययन, २/१३
३. उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ।
   अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ।। भगवतीआराधना, ७६

४. णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसाउम्मग्गया सव्वे ।।
सूत्रप्राभृत, २३

५. (अ) से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो जे य पव्वयंति जे उन पव्वइस्संति सव्वे ते सोवही धम्मो देसिअव्वोत्ति कट्टु तिथ्यधम्मथाए एसाएणुधम्मिगत्ति एवं देवसू- समायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा पव्वइसंति व।
आचारांग १/९/१-१ (शीलांक टीका), भाग १, पृ० २७३, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, १९३५.

(ब) सव्वेऽवि एगदूसेण, निग्गया जिनवरा चउव्वीसं।
आवश्यकनिर्युक्ति २२७, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावक, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), १९८९.

६. (अ) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १२५८.
(ब) वही, १२६०.

७. अचेलगो य जो धम्मो जो इमोसंतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ।। उत्तराध्ययन, २३/२९

८. वही, २३/२४.

९. मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मलाः ।
वातस्यानु ध्राजिम यंति यद्देवासो अविक्षत ।। ऋग्वेद, १०/१३६/२

१०. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएँ : एक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, संधान, अंक ७, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, १९९३, पृ० २२.

११. श्रीमद्भागवत, २/७/१०.

१२. (अ) उत्तराध्ययनसूत्र, २३/२६.
(ब) यथोक्तम् ... पुरिम पच्छिमाणं अरहंताणं भगवंताणं अचेलये पसत्थे भवइ। उत्तराध्ययन — नेमिचन्द की टीका, आत्मवल्लभ, ग्रंथांक २२, बालापुर, १९३७, २/१३, पृ० २२ पर उद्धृत।

१३. उत्तराध्ययन, २२/३३-३४.

१४. वही, २३/२९.

१५. 'जो इमो' त्ति पश्चायं सान्तराणि वर्धमानस्वांमियत्यपेक्षया मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि उत्तराणि - महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ

सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहाएप्यपेक्ष्यते।

उत्तराध्ययन, नेमिचन्द कृत सुखबोधावृत्ति सहित, पृ० २९५, बालापुर, २३/१२, वीर नि० सं० २४६३.

१६. परिसुद्ध जुण्णं कुच्छित थोवाण्णियत डण्ण भोग भोगेहि मुणयो मुच्छारहिता संतेहि अचेलया होंति।।

विशेषावश्यकभाष्य, पं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, ३०८२, १९६८.

१७. अहपुण एवं जाणिज्जा - उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् — सान्तरमुत्तरं - प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्त्ति बिभर्ति, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाएवमचेल एककल्पपरित्यागात्, द्विकल्पधारीत्यर्थः अथवा शनैः-शनैः शीतेएपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत तत् एकशाटकः संवृत्तः अथवा-एएत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोएचेलो भवति।

आचारांग (शीलांकवृत्ति), १/७/४, सूत्र २०९, पृ० २५१

१८. देखें, उपरोक्त

१९. देखें, उपरोक्त

२०. देखें, उपरोक्त

२१. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका), गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २४८९, पृ० ३९९.

२२. णो चेविमेण वत्थेण तंसि हेमंते ।
से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स ।।
संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ।।

— आयारो, १/९/१/२ एवं ३

२३. (अ) यच्च भावनायामुक्तं — **वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति** — तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथं केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति। अन्ये षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन

पतितमुपेक्षितं जिनेनेति। अपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति।

भगवतीआराधना, गाथा ४२३ की विजयोदया टीका, सम्पादक पं० कैलाशचन्द्रजी, भाग १, पृ० ३२५-३२६.

(ब) तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहृत कण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति।

आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/९/१/४४-४५ की वृत्ति.

(स) तहावि सुवण्णबालुगानदीपूरे अवहिते कंटरालग्गं..। किमिति वुच्चति चिरधरियत्ता सहसा व लज्जता थंडिले चुतं ण वित्ति विप्पेण केणति दिट्ठं..।

आचारांगचूर्णि, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, पृ० ३००.

(द) सामी दक्खिणवाचालाओ उत्तरवाचालं वच्चति, तत्थ सुव्वण्णकुलाए वुलिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं ताहे तं थितं सामी गतो पुणो य अवलोइतं, किं निमित्तं ? केती भणंति - जहा ममत्तीए अन्ने भणंति मा अत्थंडिले पडितं, अवलोइतं सुलभ वत्थं पत्तं सिस्साणं भविस्सति ? तं च भगवता य तेरसमासे अहाभावेणं धारियं ततो वोसरियं पच्छा अचेलते। तं एतेण पितुवंतस धिज्जातितेण गहितं। आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २७६.

इससे यह फलित होता है कि उनके वस्त्रत्याग के सम्बन्ध में जो विभिन्न प्रवाद प्रचलित थे — उनका उल्लेख न केवल यापनीय अपितु श्वेताम्बर आचार्य भी कर रहे थे।

२४. आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/९/१/१-४, पृ० २७३.

२५. (अ) सव्वेऽवि एगदूसेण, निग्गया जिणवरा चउव्वीसं ।
न य नाम अण्णलिंगे, नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, २२७.

(ब) बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति ।
छेओवट्ठावणयं पुण वयंति उसभो य वीरो य ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, १२६०.

२६. (अ) एवमेगे उ पासत्था। सूत्रकृतांग, १/३/४/९

(ब) पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ।।
— भगवतीआराधना, गाथा ३४१.

२७. छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोए हवंति ते पायगहणेवि ।।

— ओघनिर्युक्ति, ६९१.

२८. निग्गंथा एक साटका। मज्झिमनिकाय — महासिंहनादसुत्त, १/१/२

२९. देखें — दीघनिकाय, अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, बनारस १९३६, पासादिकसुत्त ३/६, पृ० २५२

३०. भगवई, पन्नरसं सतं, १०१-१५२, सं० मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनूँ, वि० सं० २१३१, पृ० ६७७-६९४.

३१. देखें — दीघनिकाय, पासादिकसुत्तं, ३/६, पृ० २५२.

३२. धम्मपद, अट्ठकथा, तृतीय भाग, गाथा ४८९.

३३. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, सं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९३८, पृ० ३२४

३४. धुवं च पडित्मेहेज्जा जोगसा पायकंबलं ।
सेज्जमुच्चार भूमिं च संथारं अदुवासणं ।।

दशवैकालिक, ८/१७, नवसुत्ताणि, सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ,
जैन विश्वभारती, लाडनूँ, १९६७, पृ० ६८.

३५. आचारांग, १/५/८९, सं० युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर।

३६. (अ) एसेहिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं तत्थ एसे जुग्नि देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं।

आचारांग, वस्त्रैषणा — उद्‌धृत भगवती आराधना, विजयोदया
टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके विरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं।

— आचारचूला, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, २/५/१/२, पृ० १६१.

३७. (अ) हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति।

वही, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं।

— आचारांगसूत्र, आचारचूला, २/६/१/२.

३८. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे ।।
— आचारांग, १/९/१/४

३९. (अ) ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति।
सूत्रकृतांग, पुंडरीक अध्ययन, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) णो पाणस्स (पायस्स) हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। सूत्रकृताङ्ग, २/१/६८, पृ० ३६६.

४०. (अ) कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिगं लहुगं।
निशीथसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेति, धरेंतं वा सातिज्जति।
निशीथसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

४१. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

४२. भगवंती-आराधना में उल्लिखित प्रस्तुत सन्दर्भ वर्तमान आचारांग में अनुपलब्ध है। उसमें मात्र स्थिरांग मुनि के लिये एक वस्त्र और एक पात्र से अधिक रखने की अनुज्ञा नहीं है। सम्भवतः यह परिवर्तन परवर्ती-काल में हुआ है।

४३. (अ) हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे ।
धारेज्ज सिया वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति ।।
कल्पसूत्र से उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) प्रस्तुत सन्दर्भ उपलब्ध बृहत्कल्पसूत्र में प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वस्त्र धारण करने के इन कारणों का उल्लेख स्थानांगसूत्र, स्थान ३ में निम्न रूप में मिलता है — कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तओ पायाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा - जंगिए - भंगिए, खोमिए। ठाणांग, ३/३४५.

४४. आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/७/४, सूत्र, २०९, पृ० २५१.

४५. (अ) भगवती आराधना, विजयोदया टीका, पृ० ३२५-३२६. तुलनीय आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २७६.

(ब) आवश्यकसूत्रं (उत्तरभागं) चूर्णि सहित ऋषभदेव, केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२९.

४६. भगवती-आराधना, विजयोदया टीका, पृ० ३२६-३२७, पालित्रिपिटक, कन्कोर्डेन्स, पृ० ३४५.

४७. भगवती-आराधना, भाग १ (विजयोदया टीका), गाथा १५७ की टीका, पृ० २०५.

४८. (अ) शाकटायन व्याकरणम् (स्त्री-मुक्ति प्रकरणम्)-७, सम्पादक पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१, पृ०१.

(ब) बृहत्कल्पसूत्र ६/९, सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर, १९९२.

४९. (अ) बृहत्कल्पसूत्र ६/२०.

(ब) पञ्चकल्पभाष्य (आगमसुधासिन्धु), ८१६-८२२.

●

स्त्रीमुक्ति, अन्यतैर्थिकमुक्ति एवं सवस्त्रमुक्ति का प्रश्न

यापनीय परम्परा के विशिष्ट सिद्धान्तों में स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थमुक्ति (गृहस्थमुक्ति) और अन्यतैर्थिकमुक्ति ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो उसे दिगम्बर परम्परा से पृथक् करती हैं। एक ओर यापनीय संघ अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) का समर्थक है, तो दूसरी ओर वह स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थ (गृहस्थ) मुक्ति, अन्य-तैर्थिक (अन्यलिंग) मुक्ति आदि का भी समर्थक है। यही बात उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के समीप खड़ा कर देती है। यद्यपि स्त्रीमुक्ति की अवधारणा तो श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम साहित्य उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा आदि में भी उपस्थित रही है, फिर भी तार्किक रूप से इसका समर्थन सर्वप्रथम यापनीयों ने ही किया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीमुक्ति निषेध के स्वर सर्वप्रथम पाँचवीं-छठी शती में दक्षिण भारत में ही मुखर हुए और चूँकि यहाँ आगमिक परम्परा को मान्य करने वाला यापनीय संघ उपस्थित था, अत: उसे ही उसका प्रत्युत्तर देना पड़ा।

श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद की जानकारी यापनीयों से प्राप्त हुई। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने सर्वप्रथम इस चर्चा को अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में यापनीय तन्त्र के उल्लेख के साथ उठाया है। इसके पूर्व, भाष्य और चूर्णि साहित्य में यह चर्चा अनुपलब्ध है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो हमें यह देखना होगा कि इस तार्किक चर्चा के पहले स्त्रीमुक्ति के समर्थक और निषेधक-निर्देश किन ग्रन्थों में मिलते हैं। सर्वप्रथम हमें उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तिम अध्ययन (ई० पू० द्वितीय-प्रथम शती) में स्त्री की तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[१] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा के अतिरिक्त यापनीय परम्परा में भी उत्तराध्ययन की मान्यता थी और उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा उसमें लगभग नवीं शती तक जीवित रही है, क्योंकि अपराजित ने अपनी भगवती आराधना की टीका में उत्तराध्ययन से अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो क्वचित् पाठभेद के साथ वर्तमान उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध हैं। समवायांग, नन्दीसूत्र आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में अंगबाह्य आगम के रूप में, तत्त्वार्थ-भाष्य के साथ-साथ तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में एवं षट्खण्डागम की

धवलाटीका में भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उत्तराध्ययन का उल्लेख पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने उत्तराध्ययन को ई० पू० तृतीय से ई० पू० प्रथम शती के मध्य की रचना माना है। उत्तराध्ययन की अपेक्षा किंचित् परवर्ती श्वेताम्बर मान्य आगम ज्ञाताधर्मकथा (ई० पू० प्रथम शती) में मल्लि नामक अध्याय (ई० सन् प्रथम शती) में तथा अन्तकृद्दशांग के अनेक अध्ययनों में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख हैं।[२] आगमिक व्याख्या आवश्यकचूर्णि[३] (सातवीं शती) में भी मरुदेवी की मुक्ति का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ कषायप्राभृत एवं षट्खण्डागम भी स्त्रीमुक्ति के समर्थक हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक जैन-परम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।[४] यद्यपि यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम भी सुत्तपाहुड का ही समकालीन ग्रन्थ माना जा सकता है, फिर भी उसमें स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूल-ग्रन्थों में तो पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में चौदह गुणस्थानों की सम्भावना स्वीकारकर प्रकारान्तर से उसकी तद्भव मुक्ति स्वीकार की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रीमुक्ति के निर्देश हमें ईस्वी पूर्व के आगमिक ग्रन्थों से लेकर ईसा की सातवीं शती तक की आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं। फिर भी उनमें कहीं भी स्त्रीमुक्ति की तार्किक सिद्धि का कहीं कोई प्रयत्न नहीं देखा जाता। इसकी तार्किक सिद्धि की आवश्यकता तो तब होती, जब किसी ने उसका निषेध किया होता। स्त्रीमुक्ति का निषेध कुन्दकुन्द के पूर्व किसी भी आचार्य ने किया हो, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है। यद्यपि यह विवाद का विषय रहा है कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की रचना है या नहीं। फिर भी एक बार यदि हम यह मान भी लें कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की ही रचना है, तो भी उस ग्रन्थ एवं उसके कर्ता का काल छठी शताब्दी के पूर्व का तो नहीं हो सकता, क्योंकि कुन्दकुन्द की रचनाओं में गुणस्थान और सप्तभंगी की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं जो लगभग पाँचवीं-छठी शती में अस्तित्व में आ चुकी थीं। एम० ए० ढाकी ने कुन्दकुन्द के समय पर पूर्व मान्यताओं की समीक्षा करते हुए विस्तार से विचार किया है और वे उन्हें छठीं शताब्दी के पूर्व का किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करते हैं।[५]

तत्त्वार्थभाष्य (लगभग चतुर्थ शती) में सिद्धों के अनुयोगद्वार की चर्चा करते हुए लिंगानुयोगद्वार की दृष्टि से भी विचार किया गया है।[६] भाष्य की विशेषता यह है कि वह लिंग शब्द पर उसके दोनों अर्थों की दृष्टि से विचार करता है। अपने प्रथम अर्थ में लिंग का तात्पर्य है — पुरुष, स्त्री या नपुंसक रूप

शारीरिक रचनाएँ। लिंग के इस प्रथम अर्थ की दृष्टि से उसमें उत्तराध्ययन के समान ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिंगों से मुक्ति का उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि प्रत्युत्पन्न भाव अर्थात् वर्तमान में काम-वासना की उपस्थिति की दृष्टि से अवेद अर्थात् काम-वासना से रहित व्यक्ति की ही मुक्ति होती है। किन्तु पूर्व भव की अपेक्षा से तो तीनों वेदों से सिद्धि होती है। साथ ही उसमें लिंग का अर्थ वेश करते हुए कहा गया है प्रत्युत्पन्न भव अर्थात् वर्तमान भव की अपेक्षा से तो अलिंग अर्थात् लिंग के प्रति ममत्व से रहित व्यक्ति ही सिद्ध होते हैं, किन्तु पूर्व भवलिंग की अपेक्षा से स्वलिंग ही सिद्ध होते हैं। पुनः द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्य वेश की अपेक्षा से स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहलिंग तीनों ही विकल्प से सिद्ध होते हैं।

तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् तत्त्वार्थ की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं में सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि वेद की दृष्टि से तीनों वेदों के अभाव में ही सिद्धि होती है। द्रव्यलिंग अर्थात् शारीरिक संरचना की दृष्टि से पुल्लिग ही सिद्ध होते हैं किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से तो सग्रन्थलिंग से भी सिद्धि होती है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि मुक्ति पुरुष लिंग से ही प्राप्त हो सकती है। उसके पश्चात् राजवार्तिककार अकलंक भी सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख का ही समर्थन करके रह जाते हैं। उससे अधिक वे भी कुछ नहीं कहते हैं।[८]

श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यकमूलभाष्य (पाँचवीं शती), विशेषावश्यकभाष्य (छठीं शती) और आवश्यकचूर्णि (सातवीं शती) में हमें अचेलकत्व और सचेलकत्व के प्रश्नं को लेकर आर्य शिवभूति और आर्य कृष्ण के मध्य हुए विवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष के विविध तर्कों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु चूर्णि के काल तक अर्थात् सातवीं शताब्दी के अन्त तक हमें एक भी संकेत ऐसा नहीं मिलता, जिसमें श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन किया हो। इससे ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी तक उन्हें इस तथ्य की जानकारी भी नहीं थी कि स्त्रीमुक्ति के सन्दर्भ में कोई प्रतिपक्ष भी है। स्त्री की प्रव्रज्या (महाव्रतारोपण) और स्त्रीमुक्ति का निषेध सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने लगभग छठी शताब्दी में किया और उस सम्बन्ध में अपने कुछ तर्क भी दिये। पूज्यपाद ने स्त्रीमुक्ति का निषेध तो किया, फिर भी उन्होंने स्त्रीमुक्ति के खण्डन के सन्दर्भ में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम सुत्तपाहुड में यह कहा है कि जिन मार्ग में सवस्त्र की मुक्ति नहीं हो सकती चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हों ?[९] सवस्त्र की मुक्ति के निषेध में स्त्रीमुक्ति का निषेध गर्भित है,

क्योंकि स्त्री निर्वस्त्र नहीं हो सकती है। स्त्री का महाव्रतारोपण अर्थात् प्रव्रज्या क्यों नहीं हो सकती इसके सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इसके कुक्षि (गर्भाशय), नाभि और स्तन में सूक्ष्म जीव होते हैं, इसलिये उसकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है?[१०] पुनः यह भी कहा गया है कि उसमें मन की पवित्रता नहीं होती, वे अस्थिरमना होती हैं तथा उनमें रजस्राव होता है इसलिये उनका ध्यान चिन्तारहित नहीं हो सकता।[११]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में ही स्त्रीमुक्ति का तार्किक खण्डन उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में दिगम्बर परम्परा में स्त्रीमुक्ति का तार्किक निषेध छठीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व इस परम्परा में इस सम्बन्ध में क्या मान्यता थी, यह जानने का हमारे पास कोई स्रोत नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में सातवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति के इस तार्किक निषेध का कहीं कोई खण्डन किया गया हो, ऐसी सूचना भी उपलब्ध नहीं होती। सम्भवतः सातवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर आचार्य किसी ऐसी परम्परा से अवगत ही नहीं थे जो स्त्रीमुक्ति का निषेध करती थी। स्त्रीमुक्ति के निषेधक तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर श्वेताम्बरों ने नहीं, अपितु अचेलकत्व की समर्थक यापनीय परम्परा ने ही दिया। चूँकि कुन्दकुन्द दक्षिण में हुए थे और यापनीय भी दक्षिण में ही उपस्थित थे, अतः पहली चोट भी उन पर ही हुई थी और पहला प्रत्युत्तर भी उन्हें ही देना पड़ा था। सर्वप्रथम लगभग सातवीं शती में यापनीयों ने इसका प्रत्युत्तर दिया। यापनीय सम्प्रदाय के इन तर्कों का अनुसरण परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी किया। श्वेताम्बर आचार्यों में सर्वप्रथम हरिभद्र ने आठवीं शती में ललितविस्तरा में स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया है, किन्तु उन्होंने भी अपनी ओर से कोई तर्क न देकर इस सम्बन्ध में यापनीयतन्त्र नामक (वर्तमान में अनुपलब्ध) किसी यापनीय प्राकृत ग्रन्थ को उद्धृत मात्र किया है। इससे ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द ने लगभग छठी शताब्दी में स्त्रीमुक्ति के निषेध के सन्दर्भ में जो तर्क दिये थे, उसका खण्डन यापनीयों ने लगभग सातवीं शताब्दी में किया और यापनीयों के तर्कों को गृहीत करके ही आठवीं शताब्दी से श्वेताम्बर परम्परा में भी स्त्रीमुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा का खण्डन किया जाने लगा। यापनीयतन्त्र के पश्चात् स्त्रीमुक्ति के समर्थन में सर्वप्रथम यापनीय आचार्य शाकटायन ने लगभग नवीं शती में 'स्त्री-निर्वाण-प्रकरण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। इसके बाद दोनों ही परम्पराओं में स्त्रीमुक्ति के पक्ष एवं विपक्ष में लिखा जाने लगा। स्त्रीमुक्ति के पक्ष में श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र (आठवीं शती) के पश्चात् अभयदेव (ई० सन् १०००), शान्तिसूरि (ई० सन् ११२०), मलयगिरि

(ई० सन् ११५०), हेमचन्द्र (ई० सन् ११६०), वादिदेव (ई० सन् ११७०), रत्नप्रभ (ई० सन् १२५०), गुणरत्न (ई० सन् १४००), यशोविजय (ई० सन् १६६०), मेघविजय (ई० सन् १७००) ने अपनी कलम चलाई। दूसरी ओर स्त्रीमुक्ति के विपक्ष में दिगम्बर परम्परा में वीरसेन (लगभग ई० सन् ८००), देवसेन (ई० सन् ९८०), नेमिचन्द (ई० सन् १०५०), प्रभाचन्द (ई० सन् ९८०-१०६५), जयसेन (ई० सन् ११५०), भावसेन (ई० सन् १२७५) आदि ने अपनी लेखनी चलाई।[१२] यहाँ हमारे लिये उन सबकी विस्तृत चर्चा करना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में हम यापनीय आचार्यों के कुछ प्रमुख तर्कों का उल्लेख करके इस विषय को विराम देंगे। जो पाठक इस सम्बन्ध में विशेष जानने को इच्छुक हों, उन्हें प्रो० पद्मनाभ जैनी के ग्रन्थ Gender Salvation को देखना चाहिये।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु उनमें कहीं भी उसका तार्किक समर्थन नहीं हुआ है। दिगम्बर परम्परा में स्त्रीमुक्ति का सर्वप्रथम तार्किक खण्डन कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है। कुन्दकुन्द ने इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यही तर्क दिया था कि जिनशासन में वस्त्रधारी सिद्ध नहीं हो सकता चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो ?[१३] इससे ऐसा लगता है कि स्त्रीमुक्ति के निषेध की आवश्यकता तभी हुई जब अचेलता को ही एक मात्र मोक्षमार्ग मान लिया गया। हमें यहाँ कहने में संकोच नहीं है कि अचेलता के एकान्त आग्रह ने ही इस अवधारणा को जन्म दिया, क्योंकि शारीरिक आवश्यकता एवं सामाजिक मर्यादा के कारण स्त्री नग्न नहीं रह सकती। नग्न हुए बिना मुक्ति नहीं होती, इसलिये स्त्री मुक्त नहीं हो सकती। इसी आग्रह के कारण गृहस्थलिंगसिद्ध और अन्यलिंगसिद्ध (सग्रन्थ-मुक्ति) की आगमिक अवधारणा का निषेध भी आवश्यक हो गया। आगे चलकर जब स्त्री को प्रव्रज्या के अयोग्य बताने के लिये तर्क आवश्यक हुए, तो यह कहा गया कि यदि स्त्री, दर्शन से शुद्ध तथा मोक्षमार्ग से मुक्त होकर घोर चारित्र का पालन कर रही हो, तो भी उसे प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती।[१४] वास्तविकता यह है कि जब प्रव्रज्या को अचेलता से भी जोड़ दिया गया तब यह कहना आवश्यक हो गया कि स्त्री पंचमहाव्रत रूप दीक्षा की अधिकारी नहीं है। यह भी प्रतिपादन किया गया कि जो सवस्त्रलिंग है वह श्रावकों का है। अतः क्षुल्लक एवं ऐलक के साथ-साथ आर्यिका की गणना भी श्रावक/श्राविका के वर्ग में की गई। अचेल परम्परा में भी कुन्दकुन्द के पूर्व स्त्रियाँ दीक्षित होती थीं और उनको महाव्रत भी प्रदान किये जाते थे। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य प्रतीत

होते हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्त्री की प्रव्रज्या का निषेध किया था और यह तर्क दिया शा कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही शिथिल परिणाम वाली होती हैं, इसलिये उनके चित्त की विशुद्धि सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी कहा गया कि स्त्रियाँ मासिक धर्म वाली होती हैं, अत: स्त्रियों में नि:शंक ध्यान सम्भव नहीं है।[१५] यह सत्य है कि शारीरिक तथा सामाजिक कारणों से पूर्ण नग्नता स्त्री के लिये सम्भव नहीं है और जब सवस्त्र की प्रव्रज्या एवं मुक्ति का निषेध कर दिया गया तो स्त्रीमुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य परिणाम था ही। पुन: आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरिग्रह के साथ-साथ स्त्री के द्वारा अहिंसा का पूर्णत: पालन भी असम्भव माना। उनका तर्क है कि स्त्रियों के स्तनों के अन्तर में, नाभि एवं कुक्षि (गर्भाशय) में सूक्ष्मकाय जीव होते हैं। इसलिये उनकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है।[१६] यहाँ यह स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे वस्तुत: स्त्री की प्रव्रज्या के निषेध के लिये हैं। स्त्रीमुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य फलित अवश्य है क्योंकि जब अचेलता ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग है और स्त्री के लिये अचेलता सम्भव नहीं है तो फिर उसके लिये न तो प्रव्रज्या सम्भव होगी और न ही मुक्ति।

हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द के इन तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर सम्भवत: यापनीय परम्परा के 'यापनीयतन्त्र' (यापनीय-आगम) नामक ग्रन्थ में दिया गया है। वर्तमान में यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु इसका वह अंश जिसमें स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है, हरिभद्र के ललितविस्तरा में उद्धृत होने से सुरक्षित है। उसमें कहा गया है कि स्त्री अजीव नहीं है, न वह अभव्य है, न सम्यग्दर्शन के अयोग्य है, न अमनुष्य है, न अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न है, न असंख्यात आयुष्य वाली है, न वह अतिक्रूरमति है, न उपशान्त मोह है, न अशुद्धाचारी है, न अशुद्धशरीरा है, न वह वर्जित व्यवसायवाली है, न अपूर्वकरण की विरोधी है, न नवें गुणस्थान से रहित है, न लब्धि से रहित है और न अकल्याण भाजन है तो फिर वह उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष की आराधक क्यों नहीं हो सकती ?[१७]

आचार्य हरिभद्र ने उक्त यापनीय सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या भी की है। वे लिखते हैं — जीव ही सर्वोत्तम धर्म, मोक्ष की साधना कर सकता है और स्त्री जीव है, इसलिये वह सर्वोत्तम धर्म की आराधक क्यों नहीं हो सकती ? यदि यह कहा जाय कि सभी जीव तो मुक्ति के अधिकारी नहीं हैं जैसे अभव्य, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो अभव्य भी नहीं होतीं। पुन: यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सभी भव्य भी तो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। जैसे — मिथ्यादृष्टि-भव्यजीव, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो सम्यक् दर्शन के अयोग्य भी नहीं कही जा सकतीं। यदि इस पर यह कहा जाय कि स्त्री के सम्यग्दृष्टि होने से

क्या होता है, पशु भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है, किन्तु वह तो मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है। इस पर यापनीयों का प्रत्युत्तर यह है कि स्त्री पशु नहीं, मनुष्य है। पुनः यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि सभी मनुष्य भी तो सिद्ध नहीं होते, जैसे अनार्यक्षेत्र में या भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्य। इसका प्रत्युत्तर यह है कि स्त्रियाँ आर्य देश में भी तो उत्पन्न होती हैं। यदि यह कहा जाय कि आर्य देश में उत्पन्न होकर भी असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले अर्थात् योगलिक मुक्ति के योग्य नहीं होते, तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाली भी नहीं होतीं। पुनः यदि यह तर्क दिया जाय कि संख्यात वर्ष की आयु वाले होकर भी जो अतिक्रूरमति हों, वे भी मुक्ति के पात्र नहीं होते तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ अतिक्रूरमति भी नहीं होतीं क्योंकि स्त्रियों में तो सप्तम नरक की आयुष्य बाँधने योग्य तीव्र-रौद्र ध्यान का अभाव होता है। यह उसमें अति क्रूरता के अभाव का तथा उसके करुणामय स्वभाव का प्रमाण है और इसलिये उसमें मुक्ति के योग्य प्रकृष्ट शुभभाव का अभाव नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह कहा जाय कि स्वभाव से करुणामय होकर भी जो मोह को उपशान्त करने में समर्थ नहीं होता, वह भी मुक्ति का अधिकारी नहीं होता तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कुछ स्त्रियाँ मोह का उपशमन करती हुई देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि मोह का उपशमन करने पर भी यदि कोई व्यक्ति अशुद्धाचारी है, तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तो इसके निराकरण के लिये कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ अशुद्धाचारी (दुराचारी) नहीं होतीं। इस पर यदि कोई तर्क करे कि शुद्ध आचार वाली होकर भी स्त्रियाँ शुद्ध शरीर वाली नहीं होतीं, इसलिये वे मोक्ष की अधिकारी नहीं हैं, तो इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ तो अशुद्ध शरीर वाली नहीं होतीं। पूर्व कर्मों के कारण कुछ स्त्रियों की कुक्षि, स्तन-प्रदेश आदि अशुचि से रहित भी होते हैं। यह तर्क कुन्दकुन्द की अवधारणा का स्पष्ट प्रत्युत्तर है। पुनः शुद्ध शरीर वाली होकर भी यदि स्त्री परलोक हितकारी प्रवृत्ति से रहित हो तो मोक्ष की अधिकारी नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा भी नहीं देखा जाता। कुछ स्त्रियाँ परलोक सुधारने के लिये प्रयत्नशील भी देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि परलोक हितार्थ प्रवृत्ति करने वाली स्त्री भी यदि अपूर्वकरण आदि से रहित हो, तो मुक्ति के योग्य नहीं है। किन्तु शास्त्र में स्त्री भाव के साथ अपूर्वकरण का भी कोई विरोध नहीं दिखलाया गया है। इसके विपरीत शास्त्र में स्त्री में भी अपूर्वकरण का सद्भाव प्रतिपादित है। पुनः यदि यह कहा जाय कि अपूर्वकरण से युक्त होकर भी यदि कोई स्त्री नवम गुणस्थान को प्राप्त करने में अयोग्य हो तो वह मुक्ति की अधिकारी नहीं हो सकती। किन्तु आगम में स्त्री में

नवम गुणस्थान का भी सद्भाव प्रतिपादित है। पुनः यदि यह तर्क दिया जाय कि नवम गुणस्थान को प्राप्त करने में समर्थ होने पर भी, यदि स्त्री में लब्धि प्राप्त करने की योग्यता नहीं है तो वह कैवल्य आदि को प्राप्त नहीं कर पाती है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि वर्तमान में भी स्त्रियों में आमर्ष लब्धि अर्थात् शरीर के मलों का औषधि रूप में परिवर्तित हो जाना आदि लब्धि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतः वह लब्धि से रहित भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री लब्धि योग्य होने पर भी कल्याण-भाजन न हो तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकेगी। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि स्त्रियाँ कल्याण-भाजन होती हैं, क्योंकि वे तो तीर्थङ्करों को जन्म देती हैं। अतः स्त्री उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष की अधिकारी हो सकती है। हरिभद्र ने इसके अतिरिक्त सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा करते हुए सिद्धप्राभृत का भी एक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। सिद्धप्राभृत में कहा गया है कि सबसे कम स्त्री-तीर्थङ्कर (तीर्थङ्करी) सिद्ध होते हैं।[१८] उनकी अपेक्षा स्त्री तीर्थङ्कर के तीर्थ में नौ तीर्थङ्कर सिद्ध असंख्यातगुणा अधिक होते हैं। उनकी अपेक्षा स्त्री-तीर्थङ्कर के तीर्थ में नौ तीर्थङ्करी सिद्ध (स्त्री शरीर से सिद्ध) असंख्यातगुणा अधिक होते हैं। सिद्धप्राभृत (सिद्धपाहुड) एक पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें सिद्धों के विभिन्न अनुयोगद्वारों की चर्चा हुई है। ज्ञातव्य है कि हरिभद्र के समकालीन सिद्धसेनगणि ने अपने तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में सिद्धप्राभृत का एक सन्दर्भ दिया है।[१९] यह ग्रन्थ अनुमानतः नन्दीसूत्र के पश्चात् लगभग सातवीं शती में निर्मित हुआ होगा।

इस प्रकार यापनीय परम्परा में ही सर्वप्रथम स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन करने का प्रयास हुआ है। यह हम पूर्व में ही कह चुके हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में जो तर्क दिये हैं वे मुख्यतः यापनीयों का ही अनुसरण हैं। ललितविस्तरा में अपनी ओर से एक भी नया तर्क नहीं दिया गया है, मात्र यापनीयतन्त्र के कथन का स्पष्टीकरण किया गया है। इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति निषेधक परम्परा का ज्ञान यापनीयों के माध्यम से ही हुआ क्योंकि कुन्दकुन्द की स्त्रीमुक्ति निषेधक परम्परा सुदूर दक्षिण में ही प्रस्थापित हुई थी। अतः उसका उत्तर भी दक्षिण में अपने पैर जमा रही यापनीय परम्परा को ही देना पड़ा।

यापनीय आचार्य शाकटायन ने तो स्त्रीनिर्वाणप्रकरण नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना की है। वह अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि भक्ति और मुक्ति के प्रदाता निर्मल अर्हत् के धर्म को प्रणाम करके मैं संक्षेप में स्त्री-निर्वाण और केवलीमुक्ति को कहूँगा।[२०] इसी ग्रन्थ में शाकटायन कहते हैं कि रत्नत्रय की

सम्पदा से युक्त होने के कारण पुरुष के समान ही स्त्री का भी निर्वाण सम्भव है। यदि यह कहा जाय कि स्त्रीत्व, रत्नत्रय की उपलब्धि में वैसे ही बाधक है, जैसे देवत्व आदि तो यह तुम्हारा अपना कथन हो सकता है। आगम में और अन्य ग्रन्थों में इसका कोई प्रमाण नहीं है। एक साध्वी जिन वचनों को समझती है, उन पर श्रद्धा रखती है और उनका निर्दोष रूप से पालन करती है। इसलिये रत्नत्रय की साधना का स्त्रीत्व से कोई भी विरोध नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि रत्नत्रय की साधना स्त्रीत्व के लिये अशक्य है और जो अदृष्ट है उसके साथ असंगति बताने का कोई अर्थ नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री में सातवें नरक में जाने की योग्यता का अभाव है, इसलिये वह निर्वाण-प्राप्ति के योग्य नहीं है। किन्तु ऐसा अविनाभाव या व्यक्ति सम्बन्ध द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो सातवें नरक में नहीं जा सकता वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता। चरम शरीरी जीव तद्भव में भी सातवें नरक में नहीं जा सकते, किन्तु तद्भव मोक्ष जाते हैं। पुनः ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जितना निम्न गति में जा सकता है, उतना ही उच्च गति में जा सकता है। कुछ प्राणी ऐसे हैं जो निम्न गति में बहुत निम्न स्थिति तक नहीं जाते, किन्तु वे सभी उच्च गति में भी समान रूप से जाते हैं, जैसे सम्मूर्च्छिम जीव प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकते, परिसर्प आदि द्वितीय नरक से आगे नहीं जा सकते, पक्षी तृतीय नरक से आगे नहीं जा सकते, चतुष्पद चतुर्थ नरक से आगे नहीं जा सकते, सर्प पंचम नरक से आगे नहीं जा सकते। इस प्रकार निम्न गति में जाने से इन सबमें भिन्नता है, किन्तु उच्चगति में ये सभी सहस्रार स्वर्ग तक बिना किसी भेदभाव के जा सकते हैं। इसलिये यह कहना कि जो जितनी निम्न गति तक जाने में सक्षम होता है, वह उतनी ही उच्च गति तक जाने में सक्षम होता है, तर्कसंगत नहीं है। अधोगति में जाने की अयोग्यता से उच्च गति में जाने की अयोग्यता सिद्ध नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि वाद आदि की लब्धि से रहित, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित, जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ और मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त न कर पाने के कारण स्त्री की मुक्ति नहीं हो सकती, तो फिर यह मानना होगा कि जिस प्रकार आगम में जम्बूस्वामी के पश्चात् इन जिन बातों के विच्छेद का उल्लेख किया है, उसी प्रकार स्त्री के लिये मोक्ष के विच्छेद का भी उल्लेख होना चाहिये था।

यदि यह माना जाय कि स्त्री दीक्षा की अधिकारी न होने के कारण मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है, तो फिर आगमों में दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की सूची में जिस प्रकार शिशु को दूध पिलाने वाली स्त्री तथा गर्भिणी स्त्री आदि का उल्लेख

किया गया, उसी प्रकार सामान्य स्त्री का भी उल्लेख किया जाना चाहिये था।

पुनः यदि यह कहा जाय कि वस्त्र धारण करने के कारण स्त्री मोक्ष-प्राप्ति की अधिकारी नहीं है अथवा दूसरे शब्दों में वस्त्ररूपी परिग्रह ही उसकी मुक्ति में बाधक है तो फिर प्रतिलेखन का ग्रहण आदि भी मुक्ति में बाधक क्यों नहीं होंगे ? यदि प्रतिलेखन का ग्रहण उसका संयम उपकरण होने के कारण परिग्रह के अन्तर्गत नहीं माना जाता है तो स्त्री के लिये वस्त्र भी जिनोपदिष्ट संयमोपकरण है, अतः उसे परिग्रह कैसे माना जा सकता है ?

यद्यपि वस्त्र परिग्रह है, फिर भी भगवान् ने साध्वियों के लिये संयमोपकरण के रूप में उसको ग्रहण करने की अनुमति दी है, क्योंकि वस्त्र के अभाव में उनके लिये सम्पूर्ण चारित्र का ही निषेध हो जायेगा, जबकि वस्त्र-धारण करने में अल्प दोष होते हुए भी संयम पालन हेतु उसकी अनुमति दी गई है। जो संयम के पालन में उपकारी होता है, वह धर्मोपकरण या संयमोपकरण कहा जाता है, परिग्रह नहीं। अतः निर्ग्रन्थी का वस्त्र संयमोपकरण है, परिग्रह नहीं।

आगमों में साध्वी के लिये निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। यदि यह माना जाय कि वस्त्र-ग्रहण परिग्रह ही है तो फिर आगम में उसके लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये था क्योंकि निर्ग्रन्थ का अर्थ है, परिग्रह से रहित। यदि संयमोपकरण परिग्रह हो तो फिर कोई मुनि भी निर्ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यदि एक व्यक्ति वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित भी है किन्तु उसके मन में उनके प्रति कोई ममत्व नहीं हो तो वह अपरिग्रही कहा जायेगा। इसके विपरीत एक व्यक्ति जो नग्न रहता है किन्तु उसमें ममत्व और मूर्च्छा का भाव है तो वह अचेल होकर भी परिग्रही ही कहा जायेगा। साध्वी इसलिये वस्त्र धारण नहीं करती है कि उसमें वस्त्र के प्रति कोई ममत्व है अपितु वह वस्त्र को जिनाज्ञा मानकर ही धारण करती है। पुनः वस्त्र उसके लिये उसी प्रकार परिग्रह नहीं है, जिस प्रकार यदि किसी ध्यानस्थ नग्नमुनि के शरीर पर उपसर्ग के निमित्त से डाला गया वस्त्र उस मुनि के लिये परिग्रह नहीं होता। इसके विपरीत एक नग्न व्यक्ति भी यदि अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव रखता है तो वह परिग्रही ही कहा जायेगा और ऐसा व्यक्ति नग्न होकर भी मोक्ष-प्राप्ति के अयोग्य ही होता है। जबकि वह व्यक्ति जिसमें ममत्व भाव का पूर्णतः अभाव है, शरीर धारण करते हुए भी अपरिग्रही ही कहा जायगा। अतः जिनाज्ञा के कारण संयमोपकरण के रूप में वस्त्र धारण करते हुए भी नियमवान स्त्री अपरिग्रही ही है और मोक्ष की अधिकारी भी।

जिस प्रकार जन्तुओं से व्याप्त इस लोक में मुनि के द्वारा द्रव्य-हिंसा होती रहने पर भी कषाय के अभाव में वह अहिंसक ही माना जाता है, उसी प्रकार

वस्त्र के सद्भाव में भी निर्ममत्व के कारण साध्वी अपरिग्रही मानी जाती है। यह ज्ञातव्य है कि यदि हम हिंसा और अहिंसा की व्याख्या बाह्य घटनाओं अर्थात् द्रव्य-हिंसा (जीवघात) के आधार पर न करके व्यक्ति के मनोभावों अर्थात् कषायों की उपस्थिति के आधार पर करते हैं, तो फिर परिग्रह के लिये भी यही कसौटी माननी होगी। यदि हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषाय एवं प्रमाद का अभाव होने से मुनि अहिंसक ही रहता है, तो फिर वस्त्र के होते हुए भी मूर्च्छा के अभाव में साध्वी अपरिग्रही क्यों नहीं मानी जा सकती है।

स्त्री का चारित्र वस्त्र के बिना नहीं होता ऐसा अर्हत् ने कहा है। तो फिर स्थविरकल्पी आदि के समान उसकी मुक्ति क्यों नहीं होगी ? ज्ञातव्य है कि स्थविरकल्पी मुनि भी जिनाज्ञा के अनुरूप वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करते हैं। पुनः अर्श, भगन्दर आदि रोगों में जिनकल्पी अचेल मुनि को भी वस्त्र ग्रहण करना होता है अतः उनकी भी मुक्ति सम्भव नहीं होगी।

पुनः अचेलकत्व उत्सर्ग मार्ग है, यह बात जब तक सिद्ध नहीं होगी तब तक सचेल मार्ग को अपवाद मार्ग नहीं माना जायेगा। उत्सर्ग भी अपवाद सापेक्ष है। अपवाद के अभाव में उत्सर्ग, उत्सर्ग नहीं रह जाता। यदि अचेलता उत्सर्ग मार्ग है तो सचेलता भी अपवाद मार्ग है, दोनों ही मार्ग हैं अमार्ग कोई भी नहीं। अतः दोनों से ही मुक्ति मानना होगा।

पुनः जिस तरह आगमों में आठ वर्ष के बालक आदि की दीक्षा का निषेध किया गया है, उसी प्रकार आगमों में यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति तीस वर्ष की आयु को पार कर चुका हो और जिसकी दीक्षा को उन्नीस वर्ष व्यतीत हो गये हों, वही जिनकल्प की दीक्षा का अधिकारी है। यदि मुक्ति के लिये जिनकल्प अर्थात् नग्नता आवश्यक होती, तो यह भी कहा जाना चाहिए था कि तीस वर्ष से कम उम्र का व्यक्ति मुक्ति के अयोग्य है। किन्तु सभी परम्पराएँ एक मत से यह मानती ही हैं कि मुक्ति के लिये तीस वर्ष की आयु होना आवश्यक नहीं है। सामान्य रूप से इसका अर्थ हुआ कि जिनकल्प अर्थात् नग्नता के बिना भी मुक्ति सम्भव है, अतः स्त्रीमुक्ति सम्भव है।

आगमों में संवर और निर्जरा के हेतु रूप बहुत प्रकार की तप विधियों का निर्देश किया गया है। जिस प्रकार योग और चिकित्सा की अनेक विधियाँ होती हैं और व्यक्ति की अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें से कोई एक ही विधि उपकारी सिद्ध होती है, सबके लिये एक ही विधि उपकारी सिद्ध नहीं होती; उसी प्रकार आचार में भी कोई जिनकल्प साधना के योग्य होता है तो कोई स्थविरकल्प की साधना के। इसलिये वस्त्र का त्याग होने से स्त्री के लिये मोक्ष का अभाव नहीं

है क्योंकि मोक्ष के लिये तो रत्नत्रय के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात आवश्यक नहीं है।

पुन: स्त्री की नग्नदीक्षा का निषेध कर देने का अर्थ भी उसकी मुक्ति की योग्यता का निषेध नहीं है क्योंकि जिनशासन की प्रभावना के लिये उन व्यक्तियों की प्रव्रज्या का निषेध भी किया जाता है जो रत्नत्रय के पालन में सक्षम होते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी के अचेल दीक्षा के निषेध से उसकी मुक्ति का निषेध सिद्ध नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि स्त्रियाँ इसलिये सिद्ध नहीं हो सकती हैं क्योंकि वे मुनियों के द्वारा वन्दनीय नहीं होतीं, जैसा कि आगम में कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षिता साध्वी भी एक दिन के नव दीक्षित मुनि को वन्दन करे। इसके प्रत्युत्तर में शाकटायन कहते हैं कि मुनि के द्वारा वन्दनीय न होने से उन्हें मोक्ष के अयोग्य मानोगे तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि अर्हत् (तीर्थङ्कर) के द्वारा वन्दनीय होने से कोई भी व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं होगा क्योंकि अर्हत् तो किसी को भी वन्दन नहीं करता है। इसी प्रकार स्थविरकल्पी मुनि, जिनकल्पी मुनि के द्वारा वन्दनीय नहीं हैं, अत: यह भी मानना होगा कि स्थविरकल्पी मुनि भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार जिन, गणधर को वन्दन नहीं करते हैं, अत: गणधर भी मोक्ष के अधिकारी नहीं है। यह लौकिक व्यवहार मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो व्रत-पालन है और व्रत-पालन में स्त्री-पुरुष समान ही माने गए हैं।

सभी सांसारिक विषयों में तो स्त्रियाँ पुरुषों से निम्न ही मानी जाती हैं। अत: मोक्ष के सम्बन्ध में भी उन्हें निम्न ही क्यों नहीं माना जाना चाहिए ? तीर्थङ्कर पद भी तो केवल पुरुष को ही प्राप्त होता है इसलिये पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। इसके प्रत्युत्तर में यापनीयों का तर्क यह है कि तीर्थङ्कर तो केवल क्षत्रिय होते हैं, ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य तो तीर्थङ्कर नहीं होते, तो फिर क्या यह माना जाय कि ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य मुक्ति के अधिकारी नहीं होते ? पुन: सिद्ध न तो स्त्री है, न पुरुष। अत: सिद्ध का लिंग से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यदि यह तर्क दिया जाय कि स्त्रियाँ कपटवृत्ति वाली या मायावी होती हैं तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि व्यवहार में तो पुरुष भी मायावी देखे जाते हैं।

पुन: यदि यह कहा जाय कि पुरुष के समान स्त्रियों का कोई भी सिद्ध क्षेत्र उल्लिखित नहीं है तो यह बात अनेक पुरुषों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सभी पुरुषों के सिद्ध क्षेत्र तो प्रसिद्ध नहीं हैं।

यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाय कि स्त्रियों में पुरुषार्थ की कमी होती है इसलिये वे मुक्ति की अधिकारी नहीं हैं, किन्तु हम देखते हैं कि आगमों में ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमति, चन्दना आदि अनेक स्त्रियों के उल्लेख हैं जो पुरुषार्थ और साधना में पुरुषों से कम नहीं थीं। अतः यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है।

पुनः एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि जो व्यक्ति बहुत पापी और मिथ्यादृष्टिकोण से युक्त होता है वही स्त्री के रूप में जन्म लेता है। सम्यग्दृष्टि प्राणी स्त्री के रूप में जन्म ही नहीं लेता। तात्पर्य यह है कि स्त्री-शरीर का ग्रहण पाप के परिणामस्वरूप होता है इसलिये स्त्री-शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है। साथ ही दिगम्बर परम्परा यह भी मानती है कि एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति स्त्री, पशुस्त्री, प्रथम नरक के बाद के नरक, भूत-पिशाच आदि और देवी के रूप में जन्म नहीं लेता। पापी आत्मा ही इन शरीरों को धारण करता है। अतः स्त्री-शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है। इस सम्बन्ध में यापनीयों का कथन है कि दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता प्रमाणरहित है। दूसरे जब सम्यग्दर्शन का उदय होता है, तब सभी कर्म मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति के रह जाते हैं, ६९ कोटाकोटि सागरोपम स्थिति के कर्म तो मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी समाप्त कर सकता है। अतः सम्यग्दर्शन का उदय होने पर स्त्रियाँ अवशिष्ट मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम के कर्मों को क्यों क्षय नहीं कर सकतीं ? फिर भी स्त्री में कर्म क्षय करने की शक्ति का अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है।

पुनः आगमों में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख भी हैं। मथुरागम में कहा गया है कि एक समय में अधिकतम १०८ पुरुष, २० स्त्रियाँ और १० नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।[२१] ज्ञातव्य है कि यह उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र का है, जिसकी माथुरीवाचना यापनीयों को भी मान्य थी। इसके अतिरिक्त आगम में स्त्री के १४ गुणस्थान कहे गये हैं। सम्भवतः शाकटायन का यह निर्देश षट्षण्डागम के प्रसंग में है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम दिगम्बरों को भी मान्य है। इस वचन के प्रति दिगम्बर परम्परा का यह कहना है कि यहाँ स्त्री से तात्पर्य भाव-स्त्री (स्त्रीवेदी जीव) अर्थात् उस पुरुष से है जिसका स्वभाव स्त्रैण हो। इस सम्बन्ध में शाकटायन का प्रत्युत्तर यह है कि किसी शब्द का दूसरा गौण अर्थ होते हुए भी, जब तक उस सन्दर्भ में उसका प्रथम मुख्य अर्थ उपयुक्त हो तब तक दूसरा गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता। प्रत्येक शब्द का अपना एक निश्चित रूढ़ अर्थ होता है और बिना पर्याप्त कारण के उस निश्चित रूढ़ अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता। पुनः जब तक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ या रूढ़ अर्थ ग्राह्य है, तब तक दूसरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री शब्द स्त्रीशरीरधारी अर्थात् स्तन, गर्भाशय

आदि से युक्त प्राणी के लिये ही प्रयुक्त होता है। यहाँ (षट्खण्डागम के प्रस्तुत प्रसंग में) स्त्री शब्द का अन्य कोई अर्थ उसी प्रकार निरर्थक है जैसे कोई अग्निपुत्र नामक व्यक्ति का अर्थ अग्नि से उत्पन्न पुत्र करे। पुन: जब आगमों में यह कहा जाता है कि स्त्री छठें नरक से आगे नहीं जाती, वहाँ आप स्त्री शब्द को उसके मुख्य अर्थ में लें और आगे जब आगम में यह कहा जाये कि स्त्री में चौदह गुणस्थान होते हैं तो वहाँ स्त्री शब्द को उसके गौण अर्थ अर्थात् भाव-स्त्री के रूप में लें, यह उचित नहीं है। शाकटायन यहाँ स्पष्ट रूप से वीरसेन की षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणाखण्ड के ९३वें सूत्र की व्याख्या पर कटाक्ष करते हुए प्रतीत होते हैं। षट्खण्डागम में सत्प्ररूपणा की गतिमार्गणा में यह कहा गया है कि पर्याप्त मनुष्यनी में संयतासंयत, संयत आदि गुणस्थान होते हैं। वीरसेन ने यहाँ मनुष्यनी शब्द की भावस्त्री या स्त्रीवेदी पुरुष ऐसी जो व्याख्या की है, वह शाकटायन को स्वीकार्य नहीं है। शाकटायन का स्पष्ट मत है कि आगम (षट्खण्डागम) में जो मनुष्यनी शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ उसका मुख्य अर्थ 'स्त्री' ही ग्राह्य है। ज्ञातव्य है कि यहाँ मनुष्यनी का अर्थ स्त्रीवेदी पुरुष (स्त्रैण-पुरुष) इसलिये भी ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि यह चर्चा गतिमार्गणा के सन्दर्भ में है, वेद-मार्गणा के सम्बन्ध में नहीं है। वेद-मार्गणा की चर्चा तो आगे की ही गई है। अत: प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मनुष्यनी' का अर्थ स्त्रीवेदी मनुष्य/भावस्त्री नहीं किया जा सकता है।

पुन: स्त्रीवेद (कामवासना) की उपस्थिति में तो मुक्ति सम्भव ही नहीं होती है, वेद तो नवें गुणस्थान में ही समाप्त हो जाता है। किन्तु स्त्रीवेद शरीर की उपस्थिति में सम्भव है, क्योंकि शरीर तो चौदहवें गुणस्थान अर्थात् मुक्ति के लक्षण तक रहता है।

पुन: पुरुष शरीर में स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष द्वारा भोगे जाने सम्बन्धी काम-वासना अथवा स्त्री शरीर में पुरुषवेद अर्थात् स्त्री को भोगने सम्बन्धी कामवासना का उदय मानना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। यदि यह माना जायेगा कि पुरुष की आंगिक संरचना में स्त्री रूप से भोगे जाना और स्त्री की शारीरिक रचना में पुरुष रूप से स्त्री को भोग करना सम्भव होता है तो फिर समलिंगी विवाह-व्यवस्था को भी मानना होगा। साथ ही यदि पुरुष में स्त्रीवेद का उदय अर्थात् दूसरे पुरुष के द्वारा स्त्री रूप में भोगे जाने सम्बन्धी कामवासना का उदय सम्भव मानेंगे, तो फिर मुनियों का परस्पर साथ में रहना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि किसी श्रमण में कब स्त्रीवेद का उदय हो जाय, यह कहना कठिन होगा और स्त्रीवेदी श्रमण के साथ पुरुषवेदी श्रमण का रहना श्रमणाचार नियमों के विरुद्ध होगा। किसी भी व्यक्ति में भिन्न-लिंगी कामवासना का उदय मानना सम्भव

नहीं है। व्यवहार में बाह्य शरीर रचना के आधार पर ही निर्णय लिये जाते हैं। समलैंगिक कामप्रवृत्ति या पशु-मनुष्य काम-प्रवृत्ति वस्तुत: अप्राकृतिक मैथुन या विकृत कामवासना के रूप हैं। शरीर-रचना से भिन्न वेद (कामवासना) का उदय नहीं है। अत: मनुष्यनी शब्द का अर्थ स्तन, योनि आदि से युक्त मनुष्यनी (मानव स्त्री) ही है, न कि स्त्री सम्बन्धी कामवासना से युक्त पुरुष। पुन: इस कथन का कोई प्रमाण भी नहीं है कि पुरुष शरीर-रचना से स्त्रैण कामवासना का उदय होता है। ऐसी स्थिति में यह भी मानना होगा कि स्त्री-शरीर में भी पुरुष सम्बन्धी कामवासना अर्थात् स्त्री को भोगने की इच्छा उत्पन्न होती होगी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में वेद और लिंग अलग-अलग शब्द रहे हैं। लिंग का तात्पर्य शारीरिक संरचना अथवा बाह्य चिह्नों से होता है जबकि वेद का तात्पर्य कामवासना सम्बन्धी मनोभावों से होता है।

सामान्यतया जैसी शरीर-रचना होती है, तद्रूप ही वेद अर्थात् कामवासना का उदय होता है। यदि किसी व्यक्ति में अपनी शरीर-रचना से भिन्न प्रकार की कामवासना पाई ज़ाती है तो यह मानना होगा कि उस व्यक्ति में पुरुष और स्त्री अर्थात् दोनों प्रकार की कामवासना है। परन्तु आगम की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति नपुंसकलिंगी कहा गया है। जैन-परम्परा में नपुंसक शब्द का तात्पर्य पुरुषत्व से हीन अर्थात् स्त्री का भोग करने में असमर्थ व्यक्ति, ऐसा नहीं है। जैन परम्परा के अनुसार नपुंसक वह है, जिसमें उभयलिंग की कामवासनाएँ उपस्थित हों। पुन: शाकटायन का यह भी कहना है कि यदि किसी पुरुष का काम-व्यवहार दूसरी स्त्री के साथ पुरुषवत् हो तो यह उसकी अपनी विकृत कामवासना का ही रूप है। कभी-कभी तो मनुष्य पशुओं से भी अपनी कामवासना की पूर्ति करते हुए देखे जाते हैं। क्या ऐसी स्थिति में हम यह मानेंगे कि उसमें पशु सम्बन्धी कामवासना है ? वस्तुत: यह उसकी अपनी कामवासना का ही एक विकृत रूप है। पुन: यदि यह कहा जाय कि आगम में विगत वेद (भवों) की अपेक्षा से स्त्री में चौदह गुणस्थान माने गए हैं तो फिर तो विगत भव की अपेक्षा से देव में भी चौदह गुणस्थान सम्भव होंगे, किन्तु आगम में उनमें तो चौदह गुणस्थान नहीं कहे गए हैं। वस्तुत: आगम में जो मनुष्यनी में चौदह गुणस्थानों की सम्भावना स्वीकार की गई है, वह स्त्री-वेद के आधार पर नहीं, अपितु स्त्रीलिंग (स्त्रीरूपी शरीर-रचना) के आधार पर ही है। आगम में गतिमार्गणा के सन्दर्भ में मनुष्यनी में पर्याप्त गुणस्थानों की चर्चा हुई है। अत: मनुष्यनी का अर्थ भावस्त्री अर्थात् स्त्रैण-वासना से युक्त पुरुष करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भाव या वेद की चर्चा तो भिन्न अनुयोगद्वारों में की गई है। अत: आगम (षट्खण्डागम) में मनुष्यनी का अर्थ

भावस्त्री न होकर द्रव्यस्त्री ही है और यदि आगमानुसार मनुष्यनी में चौदह गुण-स्थान सम्भव हैं तो फिर उसकी मुक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार यापनीय परम्परा आगमिक आधारों पर स्त्रीमुक्ति की समर्थक रही है।

अन्यतैर्थिक और गृहस्थमुक्ति का प्रश्न

स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ दो अन्य प्रश्न भी जुड़े हुए हैं, वे हैं अन्यतैर्थिक की मुक्ति एवं सवस्त्रमुक्ति (गृहस्थमुक्ति)। यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन आगमों में स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिकों (अन्य लिंग) और गृहस्थों की मुक्ति को भी स्वीकार किया गया है। उनकी मान्यता यह थी कि व्यक्ति चाहे किसी अन्य परम्परा में दीक्षित हुआ हो या गृहस्थ ही हो, यदि वह समभाव की साधना में पूर्णता प्राप्त कर लेता है, राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागदशा को प्राप्त हो जाता है, तो वह अन्य तैर्थिक या गृहस्थ के वेश में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर की अपेक्षा से स्त्री, पुरुष एवं नपुसंक की तथा वेश की अपेक्षा से स्वलिंग (निर्ग्रन्थ मुनिवेश), अन्य लिंग (तापस आदि अन्यतैर्थिक के वेश में) एवं गृहीलिंग (गृहस्थवेश) से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।[२२] सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, असितदेवल, नारायण आदि ऋषियों के द्वारा अन्य परम्परा के आचार एवं वेशभूषा का अनुसरण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख है।[२३] ऋषिभाषित में औपनिषदिक, बौद्ध एवं अन्य श्रमण-परम्परा के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है।[२४] वस्तुत: मुक्ति का सम्बन्ध आत्मा की विशुद्धि से है। उसका बाह्य वेश या स्त्री-पुरुष आदि के शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध या अन्य किसी धर्म-परम्परा का हो, यदि वह समभाव से युक्त है तो मुक्ति अवश्य प्राप्त करेगा।[२५] चूँकि यापनीय भी आगमिक परम्परा के अनुयायी थे, अत: यापनीय शाकटायन ने इस सम्बन्ध में आगम-प्रमाण का उल्लेख किया है। वे स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिक की मुक्ति के भी समर्थक थे। किन्तु जब अचेलता को ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग स्वीकार करके मूर्च्छादि भावपरिग्रह के साथ-साथ वस्त्र-पात्रादि द्रव्य-परिग्रह का भी पूर्ण त्याग आवश्यक मान लिया गया तो यह स्वाभाविक ही था कि स्त्रीमुक्ति के निषेध के साथ ही साथ अन्यतैर्थिक और गृहस्थों की मुक्ति का भी निषेध कर दिया जाय। दिगम्बर परम्परा में चूँकि अचेलता को ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग माना गया था, इसलिये उसने यह माना कि अन्यतैर्थिक या गृहस्थवेश में कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही स्पष्ट रूप से यह मानते रहे कि यदि व्यक्ति की रागात्मकता या ममत्व वृत्ति

समाप्त हो गयी है तो बाह्यरूप से वह चाहे गृहस्थवेश धारण किये हुए हो उसकी मुक्ति में कोई बाधा नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य[२६] में तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के सातवें सूत्र का भाष्य करते हुए उमास्वाति ने वेश की अपेक्षा से द्रव्य लिंग के तीन भेद किये — (१) स्वलिंग, (२) गृहलिंग, (३) अन्यलिंग और यह बताया कि इन तीनों लिंगों से मुक्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार उमास्वाति अन्यतैर्थिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति को विकल्प से स्वीकार करते हैं, किन्तु इसी सूत्र की व्याख्या में पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में द्रव्यलिंग की दृष्टि से निर्ग्रन्थलिंग से ही सिद्धि मानते हैं। यद्यपि उन्होंने यह माना है कि भूतपूर्व नय की अपेक्षा से सग्रन्थलिंग से भी सिद्धि होती है।[२७] किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के प्रस्तुत सूत्र (१०/७) में सिद्ध जीवों का क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि की अपेक्षा से जो विचार किया गया है, वह उनके मुक्ति प्राप्त करने के समय की स्थिति के सन्दर्भ में है। अतः भूतपूर्व नय का यहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं है। क्योंकि यदि भूतपूर्व नय से कहना होता तो उसमें तो सभी लिंग, सभी वेद, सभी गति, सभी क्षेत्र आदि से मुक्ति मानी जा सकती थी। भूतपूर्व नय का कथन मात्र आगम और अपनी परम्परा के मध्य संगति बिठाने हेतु किया गया है। फिर भी इससे यह तो फलित होता ही है कि पूज्यपाद के समय में दिगम्बर परम्परा में अन्यतैर्थिक और गृहस्थ मुक्ति के निषेध की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गयी थी। पूज्यपाद की सर्वार्थटीका से पहले हमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ की मुक्ति के स्पष्ट निषेध सम्बन्धी कोई भी उल्लेख नहीं मिले हैं। श्वेताम्बर मान्य आगम सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में तो स्पष्ट रूप से इन तीनों की मुक्ति का उल्लेख हुआ है, यह हम पूर्व में बता चुके हैं। कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के समय से ही जैन विद्वानों में यह मतभेद अस्तित्व में है। हमारी दृष्टि में कुन्दकुन्द भी पूज्यपाद के समकालीन लगभग छठीं शती के ही हैं। अतः पूज्यपाद के साथ-साथ उन्होंने भी सूत्रप्राभृत[२८] में 'वस्त्रधारी' की मुक्ति का निषेध किया है। वे कहते हैं कि — "यदि तीर्थङ्कर भी वस्त्रधारी हो तो वह भी मुक्त नहीं हो सकता।" इस निषेध में स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ तीनों की मुक्ति का ही निषेध हो जाता है, क्योंकि ये तीनों ही वस्त्रधारी हैं। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द एवं पूज्यपाद के काल से स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ की मुक्ति का भी निषेध कर दिया गया। वस्तुतः कोई भी धर्म-परम्परा जब साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में सिमटती जाती है तो उसमें अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता समाप्त होती जाती है। अन्यतैर्थिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति का निषेध इसी का परिणाम था।

परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो भी चर्चा हुई, वह मुख्य रूप से स्त्रीमुक्ति के प्रश्न को लेकर ही हुई। गृहस्थ एवं अन्यतैर्थिक की मुक्ति का प्रश्न वस्तुतः स्त्री के प्रश्न से ही जुड़ा हुआ था। अतः परवर्ती साहित्य में इन दोनों के सम्बन्ध में पक्ष व विपक्ष में कुछ लिखा गया हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[२९] में विद्यानन्द ने एकमात्र तर्क यह दिया है कि 'यदि सग्रन्थ अवस्था में मुक्ति होती है तो फिर परिग्रह-त्याग की क्या आवश्यकता है ?' जिस प्रकार यापनीय आचार्य 'शाकटायन' ने और श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र आदि ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में विविध तर्क दिये उसी प्रकार के तर्क गृहस्थ या अन्यतैर्थिक की मुक्ति के सम्बन्ध में यापनीय एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने नहीं दिये हैं। सम्भवतः इसका कारण यही रहा कि जब एक बार सचेल स्त्री की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार की जाती है तो फिर गृहस्थ और अन्यतैर्थिक की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती, क्योंकि गृहस्थ और अन्यतैर्थिक की मुक्ति का प्रश्न सीधा स्त्रीमुक्ति की समस्या के साथ जुड़ा हुआ था। अतः उस पर स्वतन्त्र रूप से पक्ष व विपक्ष में अधिक चर्चा नहीं हुई है।

जहाँ तक यापनीय परम्परा का प्रश्न है वे स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ गृहस्थ एवं अन्यतैर्थिक की मुक्ति स्वीकार करते थे। यापनीय ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आचार्य हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश'[३०] में स्पष्ट रूप से गृहस्थ मुक्ति का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत से अन्वित और मौनव्रत से समन्वित मुमुक्षु सिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हरिवंश-पुराण[३१] (जिनसेन और हरिषेण) में भी अन्यतैर्थिक की मुक्ति का उल्लेख किया गया है। उसके बयालीसवें सर्ग में नारद को 'अन्त्यदेह' कहा गया है। पुनः उसके पैंसठवें सर्ग में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि — "नरश्रेष्ठ नारद ने प्रव्रजित होकर तपस्या के बल से भव-परम्परा का क्षय करके अक्षय मोक्ष को प्राप्त किया।[३२] इसके विपरीत दिगम्बर ग्रन्थों में नारद को नरकगामी कहा गया है। इससे यह फलित होता है कि यापनीय परम्परा, श्वेताम्बर परम्परा की ही तरह उदार थी और स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थों की मुक्ति की सम्भावना को भी स्वीकार करती थी।

सन्दर्भ

१. इत्थीपुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगाः ।
सलिंगे अन्न लिंगे य गिहि लिंगे तहेव य ।।
— उत्तराध्ययन, संपादक साध्वी चंदनाजी, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, ३६/४९.

२. (अ) ज्ञाताधर्मकथा, अष्टम अध्ययन के अन्त में मल्लि के तीर्थङ्कर एवं मुक्त होने का उल्लेख है।

(ब) अन्तकृद्दशा वर्ग आठ के सभी अध्ययनों के अन्त में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख हैं।

३. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० १८१ एवं भाग २, पृ० २१२.

४. सुत्तपाहुड, गाथा २३-२६.

५. M.A. Dhaky "The Date of Kundakundacharya", *Aspects of Jainology,* Vol. III, Pt. D. D. Malvania Felicitation Volume III, P. V. Research Institute, 1991, p. 187.

६. तत्त्वार्थभाष्य, १०/७.

७. सर्वार्थसिद्धि, १०/९.

८. राजवार्तिक, १०/९.

९. सुत्तपाहुड, गाथा २३.

१०. वही, गाथा २४.

११. वही, गाथा २५-२६.

१२. Padmanabh S. Jaini, *Gender and Salvation,* Munshiram Manoharlal Publishers (P) Ltd., New Delhi, 1992, p. 4.

१३. णवि सिज्झइ वत्थधरो.जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसाउम्मग्गया सव्वे ।।
— अष्टप्राभृत, सुत्तपाहुड, गाथा २३, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास.

१४. वही, गाथा २५.

१५. वही, गाथा २६.

१६. वही, गाथा २४.

१७. हरिभद्र, ललितविस्तरा, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजीत्यभिधान श्वेताम्बर संस्था, वि० सं० १९९०, पृ० ५७-५९.

१८. सव्वत्थोआ तिथ्ययरिसिद्धा तिथ्ययरितित्थे, णोतित्थयरसिद्धा असंखेज्ज गुण तित्थयरितित्थे, णो तित्थयरिसिद्धा असंखेज्ज गुणाओ।
— सिद्धप्राभृत, उद्धृत ललितविस्तरा, पृ० ५६.

१९. अत्थितित्थकरसिद्ध तित्थकरतित्थे, ने तित्थसिद्धा तित्थकर तित्थे, तित्थ-सिद्धा तित्थकरतित्थे तित्थ सिद्धाणो, तित्थकरीसिद्धा तित्थकरी तित्थणो-

तित्थसिद्धा तित्थकरी तित्थे तित्थसिद्धा तित्थकरी तित्थे तित्थसिद्धाओ।
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र – स्वोपज्ञभाष्येण श्री सिद्धसेनगणिकृत टीकायां च समलंकृतम्, द्वितीयो विभाग, १०/७, पृ० ३०८.

२०. प्रणिपत्य मुक्तिमुक्ति प्रमदमलं धर्ममर्हतो दिशतः ।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च संक्षेपात् ।।
शाकटायन व्याकरण, 'स्त्रीमुक्तिप्रकरण', श्लोक १, भारतीय ज्ञानपीठ सम्पादक हीरालाल जैन, ए० एन० उपाध्ये, १९७१, पृ० १२१.

२१. दसचेव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य ।
पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ।। उत्तराध्ययन ३६/५

२२. इत्थीपुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा ।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ।। उत्तराध्ययन, ३६/४९.

२३. सूत्रकृतांग, १/३/४/१-१.

२४. देवनारदेण अरहता इसिणा बुइयं। इसिभासियाइं, १/१.
सम्पादक महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर.

२५. सयंबरो वा आसंबरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा ।
समभावभाविएप्पा लहइमोक्खं ण संदेहो ।। सम्बोधसत्तरी, २.

२६. लिंगे पुनरन्यो विकल्प उच्यते –द्रव्यलिंग भावलिंग अलिंगमिति। प्रत्युत्पन्न-भावप्रज्ञापनीय प्राप्तसिद्धयति। तत्त्वार्थभाष्य, १०/७.

२७. लिंगेन केन सिद्धि ? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदभ्यः सिद्धिभवितो न द्रव्यतः पुल्लिगेनेव। अथवा निर्ग्रन्थलिंगेन। सग्रंथलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्व नयापेक्षया।
पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, संपादक फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७८, पृ० ४७२.

२८. सूत्रप्राभृत, २३.

२९. साक्षन्निग्रंथालिंगेन पारम्पर्यात्ततोन्यतः साक्षात्सग्रंथलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रन्थता वृथा। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १०/९.

३०. बृहत्कथाकोश, ५७/५६२.

३१. अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषापोएप्यसौक्षितौ। हरिवंशपुराण, ४२/२२.

३२. वही, ६५/२४.

प्रमाण-लक्षण-निरूपण में प्रमाणमीमांसा का अवदान

जैन न्याय का विकास

न्याय एवं प्रमाण-चर्चा के क्षेत्र में सामान्य रूप से जैन दार्शनिकों का और विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का क्या अवदान है, यह जानने के लिये जैन न्याय के विकासक्रम को जानना आवश्यक है। यद्यपि जैनों का पञ्चज्ञान का सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है और जैन विद्या के कुछ विद्वान उसे पार्श्व के युग तक ले जाते हैं, किन्तु जहाँ तक प्रमाण-विचार का क्षेत्र है, जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण-चर्चा के प्रसंग में जैनों का प्रवेश चाहे परवर्ती हो, किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में जो विशिष्ट अवदान दे सके हैं, वह हमारे लिये गौरव की वस्तु है।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि जैनों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके। पं० सुखलालजी के अनुसार जैन ज्ञान-मीमांसा ने मुख्यतः तीन युगों में अपने क्रमिक विकास को पूर्ण किया है — १. आगम युग, २. अनेकान्त स्थापन युग और ३. न्यायप्रमाण स्थापन युग। यहाँ हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुए केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनों ने अपने अनेकान्त-सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण विचार के क्षेत्र में कदम रखा। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक असंगतियों को समझ सके तथा दूसरे पूर्व-विकसित उनकी अनेकान्त दृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त स्थिर हो गया और यही उनका इस क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने को समृद्ध किया और जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं को भी

संशोधित और परिमार्जित किया। चाहे सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलंक हों या विद्यानन्द, हरिभद्र हों या हेमचन्द्र, सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहाँ अपनी परम्परा के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया, वहीं अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गम्भीर अध्ययन किया। अतः जैन न्याय या प्रमाण-विचार स्थिर न रहकर गतिशील बना रहा। वह युग-युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

प्रमाणमीमांसा का उपजीव्य

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी इसी क्रम में हुए जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूल ग्रन्थ ही और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र १०० हैं और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्र-शैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पाँच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज इसके मात्र दो अध्याय अपने दो-दो आह्निकों के साथ उपलब्ध हैं। अध्याय और आह्निक का यह विभाग क्रम इसके पूर्व अक्षपाद के न्याय सूत्रों एवं जैन परम्परा में अकलंक के ग्रन्थों में देखा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की महत्ता व मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक परम्पराओं के न्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में "आगमिक साहित्य के अतिविशाल खजाने के उपरान्त 'तत्त्वार्थ' से लेकर 'स्याद्वादरत्नाकर' तक के संस्कृत तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन-पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।"[१] वस्तुतः निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका भाष्य जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समग्र कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। पं० सुखलालजी की मान्यता है कि प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', अनन्तवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला' और वादिदेव-सूरि के 'स्याद्वादरत्नाकर' का इसमें स्पष्ट उपयोग हुआ है। फिर भी उनकी दृष्टि

में अकलंक और माणिक्यनन्दी का मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा के वे सभी ग्रन्थ, जिनका उपयोग उनकी कृति की आधारभूत, पूर्वाचार्यों की जैन न्याय की कृतियों में हुआ है, स्वाभाविक रूप से उनकी कृति के आधार बने हैं। पुनः वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बौद्ध परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित तथा वैदिक परम्परा के कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय रही हैं।[२] वस्तुतः अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन-न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा? इस सम्बन्ध में पं० सुखलालजी कहते हैं कि "यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय-प्रमाण-विषयक (इस) साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक-एक विषय की ही चर्चा करता या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा (कुछ) भाग ऐसा है कि जो सर्व विषय संग्राही (तो है) पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्दक्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय नहीं बन सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे, फिर भी वह (सामान्य बुद्धि के पाठक के) पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ।"[१]

यह ठीक है कि प्रमाणमीमांसा सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठकों के लिये मध्यम आकार का पाठ्यक्रम-योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे उसके वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आँच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है। अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके वैदुष्य और स्वतन्त्र चिन्तन के दर्शन होते हैं, किन्तु उस सबकी चर्चा इस लघु निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है। पं० सुखलालजी ने इस ग्रन्थ में

हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा-टिप्पणों में की है, जिन्हें वहाँ देखा जा सकता है।[४] यहाँ तो हम मात्र प्रमाण-निरूपण में हेमचन्द्र के प्रमाणमीमांसा के वैशिष्ट्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण

प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' कह कर दिया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाणलक्षण पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि यह प्रमाणलक्षण पूर्व में दिये गए प्रमाणलक्षणों से शाब्दिक दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से इसमें न तो 'स्व-पर-प्रकाशत्व' की चर्चा है, न वाधविवर्जित या अविसंवादित्व की चर्चा है। जबकि पूर्व के सभी जैन आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में इन दोनों की चर्चा अवश्य की है। इसमें 'अपूर्वता' को भी प्रमाण के लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया गया है, जिसकी चर्चा कुछ दिगम्बर जैनाचार्यों ने की है। न्यायावतार में प्रमाण के जो लक्षण निरूपित किये गए हैं, उसमें स्व-पर प्रकाशत्व और बाध-विवर्जित होना ये दोनों उसके आवश्यक लक्षण बताए गए हैं।[५] न्यायावतार की इस परिभाषा में बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है। जैन-परम्परा में यह लक्षण बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है।[६] जिसे अष्टशती आदि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है।[७] इसी प्रकार मीमांसकों के प्रभाव से अनधिगतार्थक होना या अपूर्व होना भी जैन प्रमाण लक्षण में सन्निविष्ट हो गया। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने इसे भी प्रमाण-लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[८]

इस प्रकार जैन-परम्परा में हेमचन्द्र के पूर्व प्रमाण के चार लक्षण निर्धारित हो चुके थे —

१. स्व-प्रकाशक — 'स्व' की ज्ञानपर्याय का बोध,
२. पर-प्रकाशक — पदार्थ का बोध,
३. बाधविवर्जित या अविसंवादि एवं
४. अनधिगतार्थक या अपूर्व (सर्वथा नवीन) ।

इन चार लक्षणों में से 'अपूर्व' लक्षण का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में भी नहीं देखा जाता है। विद्यानन्द ने अकलंक और मणिक्यनन्दी की परम्परा से अलग होकर सिद्धसेन और समन्तभद्र के तीन ही लक्षण ग्रहण किये।[९] श्वेताम्बर परम्परा में किसी आचार्य ने प्रमाण का 'अपूर्व' लक्षण प्रतिपादित किया हो, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आता है। यद्यपि विद्यानन्द ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' लक्षण को महत्त्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु उन्होंने

'व्यवसायात्मकता' को आवश्यक समझा। परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी विद्यानन्द का ही अनुसरण किया है। अभयदेव, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र सभी ने प्रमाण-लक्षण-निर्धारण में अपूर्व' पद को आवश्यक नहीं माना है।

जैन-परम्परा में हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उन्हें पं० सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है —

१. प्रथम वर्ग में स्वपर अवभास वाला सिद्धसेन (सिद्धर्षि ?[१०]) और समन्तभद्र का लक्षण आता है। स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोणों के समन्वय का फल है।

२. इस वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत, अविसंवादि और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध मीमांसकों के प्रभाव से आए हैं। ज्ञातव्य है कि न्यायावतार में 'बाधविवर्जित' रूप में अविसंवादित्व का लक्षण आ गया है।

३. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव, और वादिदेवसूरि के लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं जो वस्तुतः सिद्धसेन (सिद्धर्षि ?) और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तरण मात्र हैं और जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णीत पद रख दिया गया है।

४. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-लक्षण की परिभाषा आती है, जिसमें 'स्व' बाधविवर्जित, अनधिगत या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण-लक्षणों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में उन्होंने 'स्व' पद, जो सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों को स्थान न देकर अभयदेव के निर्णीत पद के स्थान पर निर्णय पद दाखिल किया[११] और उमास्वाति, धर्मकीर्ति, भासर्वज्ञ आदि के 'सम्यक्' पद को अपनाकर 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' के रूप में अपना प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण-लक्षण में 'सम्यक्' पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या अविसंवादि का पर्याय माना जा सकता है। 'अर्थ' शब्द का प्रयोग जहाँ बौद्धों के विज्ञानवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के 'पर'

अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वर्थग्राहक होना ही ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग किया है। वस्तुतः स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनाचार्यों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर परम्परा में भी अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्य के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण-लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्थ पद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है, उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व-प्रकाश ही है, 'पर' का व्यावर्तक नहीं होने से लक्षण में इसका प्रवेश अनावश्यक है।[१२] पं० सुखलालजी के अनुसार ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार-स्वातन्त्र्य को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया। ज्ञान के स्वभावतः स्व-प्रकाशक होने से उन्होंने अपने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।[१३]

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा में मिल जाता है। भारतीय दर्शन में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय काल-कलाभान सम्बन्धी कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोड़कर सामान्यतया धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं; दूसरी ओर बौद्ध परम्परा सामान्य-व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है। यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल-कला का भान मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उपपादन करती है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने अपने हेतुबिन्दु की

टीका में सूक्ष्म-कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।[१४]

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, सामान्यतया दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अतः उनके अनुसार धारावाहिक ज्ञान, जब क्षण भेदादि विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो तभी प्रमाण कहा है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उत्तर देते हैं। प्रतिपक्ष का कथन है कि धारावाहिक स्मृति आदि ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक हैं और इन्हें सामान्यतया अप्रमाण समझा जाता है। यदि तुम भी इन्हें अप्रमाण मानते हो तो (तुम्हारा) सम्यगर्थ निर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है, अतः अनधिगत या अपूर्व पद रख कर उसका निरास क्यों नहीं करते हो? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न का उत्तर आचार्य हेमचन्द्र ने धारावाहिक ज्ञान और स्मृति को प्रमाण मानकर ही दिया है।[१५] क्योंकि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रमाण है तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं० सुखलालजी का कथन है कि "श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्रही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है।"[१६] यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्भावना नहीं की है।

वस्तुतः हेमचन्द्र के प्रमाण-लक्षण की यह अवधारणा हमें पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सत्य के संवादिता सिद्धान्त का स्मरण करा देती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सत्यता-निर्धारण के तीन सिद्धान्त हैं — १ संवादिता सिद्धान्त, २. संगति सिद्धान्त और ३. उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में हेमचन्द्र का सिद्धान्त अपने प्रमाण-लक्षण में अविसंवादित्व और अपूर्वता के लक्षण नहीं होने से तथा प्रमाण के सम्यगर्थ निर्णय के रूप में परिभाषित करने के कारण सत्य के संवादिता सिद्धान्त के निकट है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों के मतों को समाहित करते हुए भी एक विशेषता प्रदान की है।

सन्दर्भ

१. प्रमाणमीमांसा, सम्पादक पं० सुखलालजी, प्रस्तावना, पृ० १६.

२. वही, पृ० १७.
३. वही, पृ० १६-१७.
४. वही, भाषा-टिप्पणानि, पृ० १-१४३ तक.
५. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं वाधविवर्जितम्। न्यायावतार, १.
६. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थिति:। प्रमाणवार्तिक, २/१.
७. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्। अष्टशती/अष्टसहस्री, पृ० १७५.
८. (अ) अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। वही.
(ब) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षामुख, १/१.
९. प्रमाणमीमांसा (पं० सुखलालजी), भाषाटिप्पणानि, पृ० ७.
१०. ज्ञातव्य है कि प्रो० एम० ए० ढाकी के अनुसार 'न्यायावतार' सिद्धसेन की रचना नहीं है, जैसा कि पं० सुखलालजी ने मान लिया था, अपितु उनके अनुसार यह सिद्धर्षि की रचना है। देखें — M. A. Dhaky's Article "The Date and Author of *Nyāyāvatāra, Nirgrantha*, Shardaben Chimanbhai Educational Research Centre, Ahmedabad, Vol. 1, 1995, p. 39.
११. प्रमाण-मीमांसा (पं० सुखलालजी), भाषाटिप्पणानि, पृ० ७.
१२. वही (मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका), १/१/३, पृ० ४.
१३. वही, भाषाटिप्पणानि, पृ० ११.
१४. देखें, वही, पृ० १२-१३.
१५. वही (मूलग्रन्थ एवं स्वोपज्ञ टीका), १/१/४, पृ० ४-५.
१६. वही, भाषाटिप्पणानि, पृ० १४.

पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित 'षड्दर्शन-समुच्चय' की समीक्षा

पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के वैदुष्य को समझना हो, उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना हो तो हमें उनकी कृतियों का अवलोकन करना होगा। उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित और रचित कृतियों से ही उनके प्रतिभाशील व्यक्तित्व का परिचय मिल जाता है, जिनमें समदर्शी आचार्य हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' और उसकी गुणरत्न की टीका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (वर्तमान में देहली) से सन् १९६९ में उनके स्वर्गवास के दस वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई है। उनकी इस कृति पर उनके अभिन्न मित्र एवं साथी की विस्तृत भूमिका है। प्रस्तुत समीक्षा में उन पक्षों पर जिन पर पं० दलसुखभाई की भूमिका में उल्लेख हुआ है, चर्चा नहीं करते हुए मैंने मुख्यतः उनकी अनुवाद शैली को ही समीक्षा का आधार बनाया है।

यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्तों को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने हेतु किये गए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने समय के प्रमुख सभी भारतीय दर्शनों को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटि का कोई अन्य दर्शन संग्राहक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के पूर्व और हरिभद्र के पश्चात् भी अपने-अपने ग्रन्थों में विविध दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का कार्य अनेक जैन एवं जैनेतर आचार्यों ने किया है, किन्तु उन सबका उद्देश्य अन्य दर्शनों की समीक्षा कर अपने दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना ही रहा है, चाहे फिर वह मल्लवादी का द्वादशारनयचक्र हो या आचार्य शंकर का सर्वसिद्धान्तसंग्रह या मध्वाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह। इन ग्रन्थों में पूर्वदर्शन का उन्हीं दर्शनों के द्वारा निराकरण करते हुए, अन्त में अपने सिद्धान्त की सर्वोपरिता या श्रेष्ठता की स्थापना की गई है। इसी प्रकार का एक प्रयत्न जैनदर्शन में हरिभद्र के लगभग तीन वर्ष पूर्व पाँचवी शताब्दी में मल्लवादी के नयचक्र में भी देखा जा सकता है।

उसमें भी एक दर्शन के द्वारा दूसरे दर्शन का खण्डन कराते हुए अन्तिम दर्शन का खण्डन प्रथम दर्शन से करवाकर एक चक्र की स्थापना की गई है। यद्यपि यह स्पष्ट रूप से जैनदर्शन की सर्वोपरिता को प्रस्तुत नहीं करता किन्तु उसकी दृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही रही है। यही स्थिति सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रह की भी है। उनमें भी स्वपक्ष के मण्डन की प्रवृत्ति रही है। अतः वे जैन दार्शनिक हों या जैनेतर दार्शनिक, सभी के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मूल उद्देश्य तो अपने दर्शन की सर्वोपरिता की प्रतिस्थापना ही रही है। इस प्रकार हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह जैन और जैनेतर परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती। यह तो हरिभद्र की उदार और व्यापक दृष्टि ही थी जिसके कारण उनके द्वारा सम्प्रदाय-निरपेक्ष षड्दर्शनसमुच्चय की रचना हो पाई। उनके ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय इन दोनों में ही अन्य दर्शनों के प्रति पूर्ण प्रामाणिकता और आदर का तत्त्व देखा जाता है। सामान्यतया दार्शनिक ग्रन्थों में परपक्ष को एक भ्रान्त रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु हरिभद्र की ही यह विशेषता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय में अन्य दर्शनों को अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

हरिभद्र के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरिकृत टीका भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु ज्ञातव्य है कि टीका में भी उस उदार दृष्टि का निर्वाह नहीं देखा जाता जो मूल ग्रन्थकार की है क्योंकि टीका में चतुर्थ अधिकार में जैनमत के प्रस्तुतीकरण के साथ अन्य मतों की समीक्षा भी की गई है, जबकि हरिभद्र की कारिकाओं में इस प्रकार का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। इस टीका में जैनदर्शन की प्रतिस्थापना का प्रयत्न अतिविस्तार से हुआ है। टीका का आधे से अधिक भाग तो मात्र जैनदर्शन से सम्बन्धित है, अतः टीका की विवेचना में वह सन्तुलन नहीं है, जो हरिभद्र के मूल-ग्रन्थ में है।

हरिभद्र का यह मूल ग्रन्थ और उसकी टीका यद्यपि अनेक भण्डारों में हस्तप्रतों के रूप में उपलब्ध थे, किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है, गुजराती टीका के साथ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का सर्वप्रथम प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से १९०५ में हुआ था। इसी प्रकार मणिभद्र की लघुवृत्ति के साथ इसका प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी के द्वारा सन् १९२० में हुआ। इस प्रकार षड्दर्शनसमुच्चय मूल का टीका के साथ प्रकाशन उसके पूर्व भी हुआ था, किन्तु वैज्ञानिक रीति से सम्पादन और हिन्दी अनुवाद तो अपेक्षित था। इस ग्रन्थ का वैज्ञानिक रीति से सम्पादन और हिन्दी अनुवाद का यह महत्त्वपूर्ण

कार्य पंडित महेन्द्रकुमार आचार्य के द्वारा किया गया। सम्भवतः उनके पूर्व और उनके पश्चात् भी आज तक इस ग्रन्थ का ऐसा अन्य कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया है।

अनेक प्रतियों से पाठों का मिलान करके और जिस ढंग से मूल-ग्रन्थ को सम्पादित किया गया था, वह निश्चित ही एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा जिसमें पंडित जी को अनेक कष्ट उठाने पड़े होंगे। दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ पर उनकी अपनी भूमिका न हो पाने के कारण हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मूलप्रतों को प्राप्त करके अथवा एक प्रकाशित संस्करण के आधार पर इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में उनकी पाण्डुलिपि से जो सूचना मिलती है, उससे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय-मूल और गुणरत्न-टीका का अनुवाद २५/६/१९४० को ४ बजे पूर्ण किया था, किन्तु उनके संशोधन और उस पर टिप्पण लिखने का कार्य वे अपनी मृत्यु जून १९५९ के पूर्व तक करते रहे। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने में पर्याप्त परिश्रम किया है। खेद तो यह भी है कि वे अपने जीवनकाल में न तो इसकी भूमिका लिख पाए और न इसे प्रकाशित रूप में देख ही पाए।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ जिस रूप में हमारे सामने आया उससे उनके श्रम एवं उनकी प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि संस्कृत की अधिकांश टीकाएँ मूलग्रन्थ से भी अधिक दुष्कर हो जाती हैं और उन्हें पढ़कर समझ पाना मूलग्रन्थ की अपेक्षा भी कठिन होता है। अनेक संस्कृत ग्रन्थों की टीकाओं, विशेषरूप से जैनदर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थों की संस्कृत टीकाओं के अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि टीकाओं का अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। सामान्यतया यह देखा जाता है कि विद्वज्जन अनुवाद में ग्रन्थ के मूलशब्दों को यथावत् रखकर अपना काम चला लेते हैं किन्तु इससे विषय की स्पष्टता में कठिनाई उत्पन्न होती है। मक्षिका स्थाने मक्षिका रखकर अनुवाद तो किया जा सकता है किन्तु वह पाठकों के लिए बोधगम्य और सरल नहीं होता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की अनुवाद शैली का यह वैशिष्ट्य है कि इनका अनुवाद मूलग्रन्थ और उसकी टीका की अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुबोध है। दर्शन के ग्रन्थ को सरल और सुबोध ढंग से प्रस्तुत करना केवल उसी व्यक्ति के लिये सम्भव होता है जो उन ग्रन्थों को आत्मसात् कर उनके प्रस्तुतीकरण की क्षमता रखता हो। जिसे विषय-ज्ञान न हो वह चाहे कैसा ही भाषाविद् हो, सफल अनुवादक नहीं हो सकता।

अनुवाद के क्षेत्र में पं० महेन्द्रकुमार जी ने मूल टीका की अपेक्षा भी अर्थ में विस्तार किया है किन्तु इस विस्तार के कारण उनकी शैली में जो स्पष्टता और सुबोधता आई है वह निश्चय ही ग्रन्थ को सरलतापूर्वक समझाने में सहायक होती है। उदाहरण के रूप में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की सरल शब्दों में समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं — "अच्छा यह भी बताओ कि ईश्वर संसार को क्यों बनाता है? क्या वह अपनी रुचि से जगत् को गढ़ने बैठ जाता है? अथवा हम लोगों के पुण्य-पाप के अधीन होकर इस जगत् की सृष्टि करता है या दया के कारण यह जगत् बनाता है या उसने क्रीड़ा के लिये यह खेल-खिलौना बनाया है किंवा शिष्टों की भलाई और दुष्टों को दण्ड देने के लिए यह जगत्-जाल बिछाया है या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे-ठाले कुछ न कुछ किया ही करे।" यदि हम उनकी इस व्याख्या को मूल के साथ मिलान करके देखते हैं तो यह पाते हैं कि मूल-टीका मात्र दो पंक्तियों में है जबकि अनुवाद विस्तृत है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह अनुवाद शब्दानुसारी न होकर विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही हुआ है। पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' के इस अनुवाद शैली की विशेषता यह है कि वे इसमें किसी दुरूह शब्दावली का प्रयोग न करके ऐसे शब्दों की योजना करते हैं जिससे सामान्य पाठक भी विषय को सरलतापूर्वक समझ सके। इस अनुवाद से ऐसा लगता है कि इसमें पंडितजी का उद्देश्य अपने वैदुष्य का प्रदर्शन करना नहीं है, अपितु सामान्य पाठक को विषय का बोध कराना है। यही कारण है कि उन्होंने मूल और टीका से हटकर भी विषय को स्पष्ट करने के लिये अपने ढंग से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

पं० महेन्द्रकुमार जी के इस अनुवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्याख्या में जनसामान्य के परिचित शब्दावली का ही उपयोग किया है। उदाहरण के रूप में जैन दृष्टि से ईश्वर के सृष्टिकर्ता होने की समीक्षा के प्रसंग में वे लिखते हैं कि यदि ईश्वर हम लोगों के पाप-पुण्य के आधार पर ही जगत् की सृष्टि करता है तो उसकी स्वन्त्रता कहाँ रही, वह काहे का ईश्वर। वह तो हमारे कर्मों के हुकुम को बजाने वाला एक मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर कृपा करके इस जगत् को रचता है तो संसार में कोई दुःखी प्राणी नहीं रहना चाहिये, सभी को खुशहाल और सुखी ही उत्पन्न होना चाहिये। इस शब्दावली से हम स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि पंडित जी ने दर्शन जैसे दुरूह विषय को कितना सरस और सुबोध बना दिया है। यह कार्य सामान्य पंडित का नहीं अपितु एक अधिकारी विद्वान् का ही हो सकता है।

वस्तुतः यदि इसे अनुवाद कहना हो तो मात्र इस प्रकार कहा जा सकता

है कि उन्होंने टीका के मूल तर्कों और विषयों का अनुसरण किया है किन्तु वास्तव में तो यह टीका पर आधारित एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। दर्शन जैसे दुरूह विषय के तार्किक ग्रन्थों की ऐसी सरल और सुबोध व्याख्या हमें अन्यत्र कम ही देखने को मिलती है। यह उनकी लेखनी का ही कमाल है कि वे बात-बात में ही दर्शन की दुरूह समस्याओं को हल कर देते हैं। हरिभद्र के ही एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका का अनुवाद सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति स्व० पं० बदरीनाथ शुक्ल ने किया है किन्तु उनका यह अनुवाद इतना जटिल है कि अनुवाद की अपेक्षा मूल-ग्रन्थ से विषय को समझ लेना अधिक आसान है। यही स्थिति प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैन-दार्शनिक ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की है। वस्तुतः किसी व्यक्ति का वैदुष्य इस बात में नहीं छलकता कि पाठक को विषय अस्पष्ट बना रहे, वैदुष्य तो इसी में है कि पाठक ग्रन्थ को सहज और सरल रूप में समझ सके। पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' की यही एक ऐसी विशेषता उन्हें उन विद्वानों की उस कोटि में लाकर खड़ा कर देती है जो गम्भीर विषय को भी स्पष्टता के साथ समझने और समझाने में सक्षम हैं।

सामान्यतया संस्कृत के ग्रन्थों की व्याख्याओं या अनुवादों को समझने में एक कठिनाई यह होती है कि मूलग्रन्थ या टीकाओं में पूर्वपक्ष कहाँ समाप्त होता है और उत्तरपक्ष कहाँ से प्रारम्भ होता है, किन्तु पं० महेन्द्रकुमार जी ने अपने अनुवाद में ईश्वरवादी जैन अथवा शंका-समाधान ऐसे छोटे-छोटे शीर्षक देकर के बहुत ही स्पष्टता के साथ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को अलग-अलग रख दिया, ताकि पाठक दोनों को अलग-अलग ढंग से समझ सकें।

भाषा की दृष्टि से पण्डित जी के अनुवाद की भाषा अत्यन्त सरल है। उन्होंने दुरूह संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की अपेक्षा जनसाधारण में प्रचलित शब्दावली का ही प्रयोग किया है। यही नहीं, यथास्थान उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग किया है। उनके अनुवाद में प्रयुक्त कुछ पदावलियों और शब्दों का प्रयोग देखें — 'यह जगत् जाल बिछाया है', 'कर्मों के हुकुम को बजाने वाला मैनेजर', 'बैठे-ठाले, हाइड्रोजन में जब ऑक्सीजन अमुक मात्रा में मिलता है तो स्वभाव से ही जल बन जाता है; इसमें बीच के एजेण्ट ईश्वर की क्या आवश्यकता है', 'बिना जोते हुए अपने से ही उगने वाली जंगली घास', 'प्रत्यक्ष से कर्त्ता का अभाव निश्चित है', (देखें पृ० १०२-१०३) आदि। वस्तुतः ऐसी शब्द-योजना सामान्य पाठक के लिये विषय को समझाने में अधिक कारगर सिद्ध होती है।

जहाँ तक पं० महेन्द्रकुमार जी के वैदुष्य का प्रश्न है इस ग्रन्थ की

व्याख्या से वह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति षड्दर्शनों के साथ-साथ उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सम्यक् ज्ञाता न हो तब तक वह उनकी टीका नहीं लिख सकता। यद्यपि प्रस्तुत टीका में जैनदर्शन के पूर्वपक्ष में एवं पूर्वपक्ष को विस्तार दिया है किन्तु अन्य दर्शनों के भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष तो अपनी जगह उपस्थित हुए ही हैं। अतः षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थ की टीका पर एक नवीन व्याख्या लिख देना केवल उसी व्यक्ति के लिये सम्भव है जो किसी एक दर्शन का अधिकारी विद्वान् न होकर समस्त दर्शनों का अधिकारी विद्वान् हो। पं० महेन्द्रकुमार जी की यह प्रतिभा है कि वे इस ग्रन्थ की सरल और सहज हिन्दी व्याख्या कर सके, दार्शनिक जगत् उनके इस अवदान को कभी भी नहीं भुला पाएगा। वस्तुतः उनका यह अनुवाद, अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। उनकी वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति का यह प्रमाण है कि उन्होंने प्रत्येक विषय के सन्दर्भ में अनेक जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। सन्दर्भ-ग्रन्थों की यह संख्या सम्भवतः सौ से भी अधिक होगी जिनके प्रमाण, टिप्पणी के रूप में तुलना अथवा पक्ष-समर्थन की दृष्टि से प्रस्तुत किये गए हैं। ये टिप्पण पं० महेन्द्रकुमार जी के व्यापक एवं बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। यदि उन्हें इन सब ग्रन्थों का विस्तृत अवबोध नहीं होता तो यह सम्भव नहीं था कि वे इन सब ग्रन्थों से टिप्पण दे पाते। परिशिष्टों के रूप में षड्दर्शनसमुच्चय की मणिभद्र कृत लघुवृत्ति, अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि के साथ-साथ कारिका, शब्दानुक्रमिका, उद्धृत वाक्य, अनुक्रमणिका, संकेत-विवरण, आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० महेन्द्रकुमार जी केवल परम्परागत विद्वान् ही नहीं थे, अपितु वे वैज्ञानिक रीति से सम्पादन कला में भी निष्णात थे। वस्तुतः उनकी प्रतिभा बहुमुखी और बहुआयामी थी, जिसका आकलन उनकी कृतियों के सम्यक् अनुशीलन से ही पूर्ण हो सकता है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न की टीका पर उनकी यह हिन्दी व्याख्या वस्तुतः भारतीय दर्शन जगत् को उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसके लिये वे विद्वज्जगत् में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

●

आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान, महत्त्व, रचनाकाल एवं रचयिता

आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान

किसी भी धार्मिक परम्परा का आधार उसके धर्मग्रन्थ होते हैं, जिन्हें वह प्रमाणभूत मानकर चलती है। जिस प्रकार मुसलमानों के लिये कुरान, ईसाईयों के लिये बाइबिल, बौद्धों के लिये त्रिपिटक और हिन्दुओं के लिये वेद प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार जैनों के लिये आगम प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं। सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र, नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में आगमों का वर्गीकरण अंगबाह्य के रूप में किया गया है। परम्परागत अवधारणा यह है कि तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा रचित ग्रन्थ अंगप्रविष्ट आगम कहे जाते हैं। इनकी संख्या बारह है, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से स्वीकृत है। इन अंग आगमों के नाम हैं — १. आचारांग, २, सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथांग, ७. उपासकदशांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरणदशा, ११. विपाकदशा और १२. दृष्टि-वाद। इनके नाम और क्रम के सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं में एकरूपता है। मूलभूत अन्तर मात्र यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा आज भी दृष्टिवाद के अतिरिक्त शेष ग्यारह अंगों का अस्तित्व स्वीकार करती है, वहाँ दिगम्बर परम्परा आज मात्र दृष्टिवाद के आधार पर निर्मित कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि के अतिरिक्त इन अंग-आगमों को विलुप्त मानती है।

अंगबाह्य वे ग्रन्थ हैं जो जिनवचन के आधार पर स्थविरों के द्वारा लिखे गए हैं। नन्दीसूत्र में अंग-बाह्य आगमों को भी प्रथमतः दो भागों में विभाजित किया गया है — १. आवश्यक और २. आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, ये छः ग्रन्थ सम्मिलित रूप से आते हैं, जिन्हें आज आवश्यकसूत्र के नाम से जाना जाता है। इसी ग्रन्थ में आवश्यक व्यतिरिक्त आगम-ग्रन्थों को भी पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है — १. कालिक और २. उत्कालिक। आज प्रकीर्णकों में वर्गीकृत नौ ग्रन्थ इन्हीं दो विभागों के अन्तर्गत उल्लिखित हैं। इसमें कालिक के अन्तर्गत ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, इन दो प्रकीर्णकों

का उल्लेख मिलता है, जबकि उत्कालिक के अन्तर्गत देवेन्द्रस्तव, तन्दुल-वैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरण-विभक्ति इन सात प्रकीर्णकों का उल्लेख है।

प्राचीन आगमों में ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि अमुक-अमुक ग्रन्थ प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र दोनों में ही आगमों के विभिन्न वर्गों में कहीं भी प्रकीर्णक-वर्ग का उल्लेख नहीं है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में आज हम जिन्हें प्रकीर्णक मान रहे हैं, उनमें से अनेक का उल्लेख कालिक एवं उत्कालिक आगमों के अन्तर्गत हुआ है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आगमों का अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका और प्रकीर्णक के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के विधिमार्गप्रपा (लगभग ईसा की तेरहवीं शती) में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि तेरहवीं शती से पूर्व आगमों के वर्गीकरण में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का स्पष्ट निर्देश नहीं है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि उसके पूर्व न तो प्रकीर्णक साहित्य था और न ही इनका कोई उल्लेख था।

अंग-आगमों में सर्वप्रथम समवायांगसूत्र में प्रकीर्णक का उल्लेख हुआ है। उसमें कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों द्वारा रचित चौरासी हजार प्रकीर्णक थे। परम्परागत अवधारणा यह है कि जिस तीर्थङ्कर के जितने शिष्य होते हैं, उसके शासन में उतने ही प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना होती है। सामान्यतया प्रकीर्णक शब्द का तात्पर्य होता है — विविध ग्रन्थ। मुझे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में आगमों के अतिरिक्त सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक की कोटि में माने जाते थे। अंग-आगमों से इतर आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक एवं उत्कालिक के रूप में वर्गीकृत सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक कहलाते थे। मेरे इस कथन का प्रमाण यह है कि षट्खण्डागम की धवला टीका में बारह अंग-आगमों से भिन्न अंगबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक नाम दिया गया है।[१] उसमें उत्तराध्ययन, दश-वैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।[२] यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णक नाम से अभिहित अथवा प्रकीर्णक वर्ग में समाहित सभी ग्रन्थों के नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द नहीं मिलता है। मात्र कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द का उल्लेख हुआ है। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रकीर्णकों का अस्तित्व अति प्राचीन काल में भी रहा है, चाहे उन्हें प्रकीर्णक नाम से अभिहित किया गया हो अथवा न किया गया हो। नन्दीसूत्रकार ने अंग-आगमों को छोड़कर आगम रूप में मान्य सभी ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहा है।[३] अतः 'प्रकीर्णक' शब्द आज जितने संकुचित अर्थ में है उतना पूर्व में नहीं था।

उमास्वाति और देववाचक के समय में तो अंग-आगमों के अतिरिक्त शेष सभी आगमों को प्रकीर्णकों में ही समाहित किया जाता था। इससे जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का क्या स्थान है, यह सिद्ध हो जाता है। प्राचीन दृष्टि से तों अंग-आगमों के अतिरिक्त सम्पूर्ण जैन आगमिक साहित्य प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत आता है।

वर्तमान में प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत दस ग्रन्थ मानने की जो परम्परा है, वह न केवल अर्वाचीन है अपितु इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर आचार्यों में परस्पर मतभेद भी है कि इन दस प्रकीर्णकों में कौन से ग्रन्थ समाहित किये जाएँ। प्रद्युम्नसूरि ने विचारसारप्रकरण (चौदहवीं शताब्दी) में पैंतालीस आगमों का उल्लेख करते हुए कुछ प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है। आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी ने चार अलग-अलग सन्दर्भों में प्रकीर्णकों की अलग-अलग सूचियाँ प्रस्तुत की हैं।[५]

अत: दस प्रकीर्णक के अन्तर्गत किन-किन ग्रन्थों को समाहित करना चाहिये, इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर आचार्यों में कहीं भी एकरूपता देखने को नहीं मिलती है। इससे यह फलित होता है कि प्रकीर्णक ग्रन्थों की संख्या दस है, यह मान्यता न केवल परवर्ती है अपितु उसमें एकरूपता का भी अभाव है। भिन्न-भिन्न श्वेताम्बर आचार्य भिन्न-भिन्न सूचियाँ प्रस्तुत करते रहे हैं उनमें कुछ नामों में तो एकरूपता होती है, किन्तु सभी नामों में एकरूपता का अभाव पाया जाता है। जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें तत्त्वार्थभाष्य का अनुसरण करते हुए अंग-आगमों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहने की ही परम्परा रही है। अत: प्रकीर्णकों की संख्या अमुक ही है, यह कहने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। वस्तुत: अंग-आगमं साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंगबाह्य आगम साहित्य प्रकीर्णक के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य जैन आगम साहित्य के अति विशाल भाग का परिचायक है और उनकी संख्या को दस तक सीमित करने का दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से परवर्ती और विवादास्पद है।

प्रकीर्णक साहित्य का महत्त्व

यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रकीर्णकों को आगमों के अन्तर्गत मान्य नहीं करते हैं किन्तु प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि अनेक प्रकीर्णक अंग-आगमों की अपेक्षा भी साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य वीरभद्र द्वारा ईसा की दसवीं शती में रचित कुछ प्रकीर्णक अर्वाचीन हैं, किन्तु इससे सम्पूर्ण प्रकीर्णकों की अर्वाचीनता सिद्ध नहीं होती। विषयवस्तु की दृष्टि से

प्रकीर्णक साहित्य में जैनविद्या के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। जहाँ तक देवेन्द्रस्तव और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति प्रकीर्णक का प्रश्न है, वे मुख्यत: जैन खगोल और भूगोल की चर्चा करते हैं। इसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी जैन काल-व्यवस्था का चित्रण विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के सन्दर्भ में हुआ है। ज्योतिष्करण्डक और गणिविद्या-प्रकीर्णक का सम्बन्ध मुख्यतया जैन ज्योतिष से है। तित्थोगाली प्रकीर्णक मुख्यरूप से प्राचीन जैन इतिहास को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर परम्परा में तित्थोगाली ही एकमात्र ऐसा प्रकीर्णक है जिसमें आगमज्ञान के क्रमिक उच्छेद की बात कही गई है। सारावली प्रकीर्णक में मुख्य रूप से शत्रुञ्जय महातीर्थ की कथा और महत्त्व उल्लिखित है। तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक जैन जीवविज्ञान का सुन्दर और संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार अंगविद्या नामक प्रकीर्णक मानव शरीर के अंग-प्रत्यंगों के विवरण के साथ-साथ उनके शुभाशुभ लक्षणों का भी चित्रण करता है और उनके आधार पर फलादेश भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शरीर-रचना एवं फलित ज्योतिष दोनों विषयों से है। गच्छाचार प्रकीर्णक में जैन संघ-व्यवस्था का चित्रण उपलब्ध होता है, जबकि चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध एवं शिक्षा-सम्बन्धों का निर्देश है। वीरस्तव प्रकीर्णक में महावीर के विविध विशेषण के अर्थ की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या की गई है। चतु:शरण प्रकीर्णक में मुख्य रूप से चतुर्विध संघ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए जैन-साधना का परिचय दिया गया है। आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, संस्तारक, आराधनापताका, आराधनाप्रकरण, भक्तप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णक जैन-साधना के अन्तिम चरण समाधिमरण की पूर्व तैयारी और उसकी साधना की विशेष विधियों का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में जैनविद्या के विविध पक्षों का समावेश हुआ है, जो जैन साहित्य के क्षेत्र में उनके मूल्य और महत्त्व को स्पष्ट कर देता है।

प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल

जहाँ तक प्रकीर्णकों की प्राचीनता का प्रश्न है उनमें से अनेक प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से वे उससे प्राचीन सिद्ध हो जाते हैं। मात्र यही नहीं प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में से अनेक तो अंग-आगमों की अपेक्षा प्राचीन स्तर के रहे हैं, क्योंकि ऋषिभाषित का स्थानांग एवं समवायांग में उल्लेख है।[१] ऋषिभाषित आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो भाषा-शैली, विषयवस्तु आदि अनेक आधारों पर आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं। ऋषिभाषित उस काल का ग्रन्थ है, जब जैनधर्म सीमित सीमाओं

में आबद्ध नहीं हुआ था वरन् उसमें अन्य परम्पराओं के श्रमणों को भी आदरपूर्वक स्थान प्राप्त था। इस ग्रन्थ की रचना उस युग में सम्भव नहीं थी, जब जैनधर्म भी सम्प्रदाय के क्षुद्र घेरे में आबद्ध हो गया। लगभग ई० पू० तीसरी शताब्दी से जैनधर्म में जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ हो रहे थे, उसके संकेत सूत्रकृतांगसूत्र और भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन आगमों में भी मिल रहे हैं। भगवतीसूत्र में जिस मंखलिपुत्र गोशालक की कटु आलोचना है, उसे ऋषिभाषित अर्हत् ऋषि कहता है। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, तंदुलवैचारिक, मरणविभक्ति आदि प्रकीर्णक साहित्य के ऐसे ग्रन्थ हैं — जो सम्प्रदायगत आग्रहों से मुक्त हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख और उन्हें अर्हत् परम्परा द्वारा सम्मत माना जाना भी यही सूचित करता है कि ऋषिभाषित इन अंग-आगमों से भी प्राचीन है। पुनः ऋषिभाषित जैसे कुछ प्राचीन प्रकीर्णकों की भाषा का अर्धमागधी स्वरूप तथा आगमों की अपेक्षा उनकी भाषा पर महाराष्ट्री भाषा की अल्पता भी यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ प्राचीन स्तर के हैं। नन्दीसूत्र में प्रकीर्णक के नाम से अभिहित नौ ग्रन्थों का उल्लेख भी यही सिद्ध करता है कि कम से कम ये नौ प्रकीर्णक तो नन्दीसूत्र से पूर्ववर्ती हैं। नन्दीसूत्र का काल विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं शती माना है, अतः ये प्रकीर्णक उससे पूर्व के हैं। इसी प्रकार समवायांगसूत्र में स्पष्ट रूप से प्रकीर्णकों का निर्देश भी यही सिद्ध करता है कि समवायांगसूत्र के रचनाकाल अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में भी अनेक प्रकीर्णकों का अस्तित्व था।

इन प्रकीर्णकों में देवेन्द्रस्तव के रचनाकार ऋषिपालित हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में ऋषिपालित का उल्लेख है। इनका काल ईसा-पूर्व प्रथम शती के लगभग है। इसकी विस्तृत चर्चा हमने देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थओ) प्रस्तावना में की है[७] (इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं)। अभी-अभी 'सम्बोधि' पत्रिका में श्री ललित कुमार का एक शोध-लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने पुरा-तात्त्विक आधारों पर यह सिद्ध किया है कि देवेन्द्रस्तव की रचना ई० पू० प्रथम शती में या उसके भी कुछ पूर्व हुई होगी।[८] प्रकीर्णकों में निम्नलिखित प्रकीर्णक वीरभद्र की रचना कहे जाते हैं — चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा और आराधनापताका। आराधनापताका की प्रशस्ति में 'विक्कमनिवकालाओ अट्ठु-त्तरिमे-समासहस्सम्मि या पाठभेद से अट्ठभेद से समासहस्सम्मि' के उल्लेख के अनुसार इनका रचनाकाल ई० सन् १००८ या १०७८ सिद्ध होता है।[९] इस प्रकार प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों में जहाँ ऋषिभाषित ई० पू० पाँचवीं शती की रचना है, वहीं आराधनापताका ई० सन् की दसवीं या ग्यारहवीं शती के

पूर्वार्द्ध की रचना है। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में समाहित ग्रन्थ लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में निर्मित होते रहे हैं, फिर भी चउसरण, परवर्ती आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, संथारग और आराहनापडाया को छोड़कर शेष प्रकीर्णक ई० सन् की पाँचवीं शती के पूर्व की रचनाएँ हैं। ज्ञातव्य है कि महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित 'पइण्णायसुत्ताइं' में आउरपच्चक्खाण के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, इनमें वीरभद्र रचित आउरपच्चक्खाण परवर्ती है किन्तु नन्दीसूत्र में उल्लिखित आउरपच्चक्खाण तो प्राचीन ही है।

यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर मान्य अंग-आगमों एवं उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र जैसे प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में भी पायी जाती हैं। गद्य अंग-आगमों, में पद्यरूप में इन गाथाओं की उपस्थिति भी यही सिद्ध करती है कि उनमें ये गाथाएँ प्रकीर्णकों से अवतरित हैं। यह कार्य वलभीवाचना के पूर्व हुआ है, अत: फलित होता है कि नन्दीसूत्र में उल्लिखित प्रकीर्णक वलभीवाचना के पूर्व रचित हैं। तंदुलवैचारिक का उल्लेख दशवैकालिक की प्राचीन अगस्त्यसिंह चूर्णि में है।[१०] इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। यह चूर्णि अन्य चूर्णियों की अपेक्षा प्राचीन मानी गयी है।

दिगम्बर परम्परा में मूलाचार, भगवती-आराधना और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ अपने शौरसेनी रूपान्तरण में मिलती हैं। मूलाचार के संक्षिप्त प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नाम अध्यायों में तो आतुर-प्रत्याख्यान एवं महाप्रत्याख्यान इन दोनों प्रकीर्णकों की लगभग सत्तर से अधिक गाथाएँ हैं। इसी प्रकार मरणविभक्ति प्रकीर्णक की लगभग शताधिक गाथाएँ भगवती-आराधना में मिलती हैं। इससे यही फलित होता है कि ये प्रकीर्णक ग्रन्थ मूलाचार एवं भगवती-आराधना से पूर्व के हैं। मूलाचार एवं भगवती-आराधना के रचनाकाल को लेकर चाहे कितना भी मतभेद हो, किन्तु इतना निश्चित है कि ये ग्रन्थ ईसा की छठीं शती से परवर्ती नहीं हैं।

यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रकीर्णकों में ये गाथाएँ इन यापनीय/अचेल परम्परा के ग्रन्थों से ली गयी होंगी, किन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर यह दावा निरस्त हो जाता है। जिनमें से कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं —

१. गुणस्थान सिद्धान्त उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और आचारांगनिर्युक्ति की रचना के पश्चात् लगभग पाँचवीं-छठी शती में अस्तित्व में आया है। चूँकि मूलाचार और भगवती-आराधना दोनों ग्रन्थों में गुणस्थान का उल्लेख मिलता है, अत: ये ग्रन्थ पाँचवीं शती के बाद की रचनाएँ हैं जबकि आतुरप्रत्याख्यान, महा-प्रत्याख्यान और मरणसमाधि का उल्लेख नन्दीसूत्र में होने से ये ग्रन्थ पाँचवीं शती

के पूर्व की रचनाएँ हैं।

२. मूलाचार में संक्षिप्तप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक अध्ययन बनाकर उनमें आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान नामक दोनों ग्रन्थों को समाहित किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ये ग्रन्थ पूर्ववर्ती हैं और मूलाचार परवर्ती है।

३. भगवती-आराधना में भी मरणविभक्ति की अनेक गाथाएँ समान रूप से मिलती हैं। वर्ण्य-विषय की समानता होते हुए भी भगवती-आराधना में जो विस्तार है, वह मरणविभक्ति में नहीं है। प्राचीन स्तर के ग्रन्थ मात्र श्रुतपरम्परा से कण्ठस्थ किये जाते थे, अत: वे आकार में संक्षिप्त होते थे ताकि उन्हें सुगमता से याद रखा जा सके, जबकि लेखन-परम्परा के विकसित होने के पश्चात् विशाल-काय ग्रन्थ निर्मित होने लगे। मूलाचार और भगवती-आराधना दोनों विशाल ग्रन्थ हैं, अत: वे प्रकीर्णकों से अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। वस्तुत: प्रकीर्णक साहित्य के वे सभी ग्रन्थ जो नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में उल्लिखित हैं और वर्तमान में उपलब्ध हैं, निश्चित ही ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व के हैं।

प्रकीर्णकों में ज्योतिष्करण्डक नामक प्रकीर्णक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें श्रमण गन्धहस्ती और प्रतिहस्ती का उल्लेख मिलता है। इसमें यह भी कहा गया है कि जिस विषय का सूर्यप्रज्ञप्ति में विस्तार से विवेचन है, उसी को संक्षेप में यहाँ दिया गया है। तात्पर्य यह है कि यह प्रकीर्णक सूर्यप्रज्ञप्ति के आधार पर निर्मित किया गया है। इसमें कर्त्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। पादलिप्ताचार्य का उल्लेख निर्युक्ति साहित्य में भी उपलब्ध होता है (लगभग ईसा की प्रथम शती)। इससे यही फलित होता है कि ज्योतिष्करण्डक का रचनाकाल भी ई० सन् की प्रथम शती है। अंगबाह्य आगमों में सूर्यप्रज्ञप्ति, जिसके आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई, एक प्राचीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें जो ज्योतिष सम्बन्धी विवरण हैं, वह ईस्वी पूर्व के हैं, उसके आधार पर भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। साथ ही इसकी भाषा में अर्धमागधी रूपों की प्रचुरता भी इसे प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध करती है।

अत: प्रकीर्णकों के रचनाकाल की पूर्व सीमा ई० पू० चतुर्थ-तृतीय शती से प्रारम्भ होती है। परवर्ती कुछ प्रकीर्णक जैसे कुशलाणुबंधि अध्ययन, चतु:-शरण, भक्तपरिज्ञा आदि वीरभद्र की रचना माने जाते हैं, वे निश्चित ही ईसा की दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य का रचनाकाल ई० पू० चतुर्थ शती से प्रारम्भ होकर ईसा की दसवीं शती तक अर्थात् लगभग पन्द्रह सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक व्याप्त है।

प्रकीर्णकों के रचयिता

प्रकीर्णक साहित्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने यह पाया है कि अधिकांश प्रकीर्णक ग्रन्थों के रचयिता के सन्दर्भ में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन स्तर के प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित, चन्द्रवेध्यक, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि, गणिविद्या, संस्तारक आदि में लेखक के नाम का कहीं भी निर्देश महीं है। मात्र देवेन्द्रस्तव और ज्योतिष्करण्डक दो ही प्राचीन प्रकीर्णक ऐसे हैं, जिनकी अन्तिम गाथाओं में स्पष्ट रूप से लेखक के नामों का उल्लेख हुआ है।[११] देवेन्द्रस्तव के कर्त्ता के रूप में ऋषिपालित और ज्योतिष्-करण्डक के कर्त्ता के रूप में पादलिप्ताचार्य के नामों का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में महावीर की पट्टपरम्परा में तेरहवें स्थान पर आता है और इस आधार पर वे ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग के सिद्ध होते हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके द्वारा कोटिकगण की ऋषिपालित शाखा प्रारम्भ हुई, ऐसा भी उल्लेख है। इस सन्दर्भ में और विस्तार से चर्चा हमने देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[१२] देवेन्द्रस्तव के कर्त्ता ऋषिपालित का समय लगभग ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस तथ्य की पुष्टि श्री ललित कुमार ने अपने एक शोध-लेख में की है, जिसका निर्देश भी हम पूर्व में कर चुके हैं। ज्योतिष्करण्डक के कर्त्ता पादलिप्ताचार्य का उल्लेख हमें निर्युक्ति साहित्य में उपलब्ध होता है।[१३] आर्यरक्षित के समकालिक होने से वे लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। उनके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में भी चूर्णि साहित्य और परवर्ती प्रबन्धों में विस्तार से उल्लेख मिलता है।

कुसलाणुबंधि अध्ययन और भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक के कर्त्ता के रूप में भी आचार्य वीरभद्र का ही उल्लेख मिलता है।[१४] वीरभद्र के काल के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं जिनकी चर्चा हमने गच्छाचार प्रकीर्णक की भूमिका में की है।[१५] हमारी दृष्टि में वीरभद्र ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आचार्य हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में प्रकीर्णक साहित्य लिखा जाता रहा है। किन्तु इतना निश्चित है कि अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रकीर्णक ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक लिखे जा चुके थे। वे सभी प्रकीर्णक जो नन्दीसूत्र में उल्लिखित हैं, वस्तुत: प्राचीन हैं और उनमें जैनों के सम्प्रदायंगत विभेद की कोई सूचना नहीं है। मात्र तित्थोगाली, सारावली आदि कुछ परवर्ती प्रकीर्णकों में प्रकारान्तर से जैनों के साम्प्रदायिक

मतभेदों की किञ्चित् सूचना मिलती है। प्राचीन स्तर के इन प्रकीर्णकों में से अधिकांश मूलतः आध्यात्मिक साधना और विशेष रूप से समाधिमरण की साधना के विषय में प्रकाश डालते हैं। ये ग्रन्थ निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि के प्रस्तोता हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जैन परम्परा के कुछ सम्प्रदायों में विशेष रूप से दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं में इनकी आगम रूप में मान्यता नहीं है, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से इन प्रकीर्णकों का अध्ययन किया जाय तो इनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इन परम्पराओं की मान्यता के विरोध में जाता हो। आगम संस्थान, उदयपुर द्वारा इन प्रकीर्णकों का हिन्दी में अनुवाद करके जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है, आशा है, उसके माध्यम से ये ग्रन्थ इन परम्पराओं में भी पहुँचेंगे और उनमें इनके अध्ययन और पठन-पाठन की रुचि विकसित होगी। वस्तुतः प्रकीर्णक साहित्य की उपेक्षा प्राकृत साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा है। इस दिशा में आगम संस्थान, उदयपुर ने साम्प्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर इनके अनुवाद को प्रकाशित करने की योजना को अपने हाथ में लिया और इनका प्रकाशन करके अपनी उदारवृत्ति का परिचय दिया है। प्रकीर्णक साहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन के उद्देश्य को लेकर इनके द्वारा प्रकाशित 'प्रकीर्णक साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा' नामक पुस्तक प्रकीर्णकों के विषय में विस्तृत जानकारी देती है। आशा है सुधीजन इनके इन प्रयत्नों को प्रोत्साहित करेंगे, जिसके माध्यम से प्राकृत साहित्य की यह अमूल्य निधि जन-जन तक पहुँचकर उनके आत्म-कल्याण में सहायक बनेगी।

सन्दर्भ

१. 'अंगबाहिरचोद्दसपइण्णयज्झाया'—धवला, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ५, सूत्र ४८, पृ० २६७, उद्धृत —जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ० ७०.

२. वही, पृ० ७०.

३. नन्दीसूत्र, सम्पा० मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८२, सूत्र ८१.

४. उद्धृत —पइण्णयसुत्ताइं, सम्पा० मुनि पुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण १९८४, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २१.

५. वही, प्रस्तावना, पृ० २०-२१.

६. (क) स्थानाङ्गसूत्र, सम्पा० मुनिमधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८१, स्थान १०, सूत्र ११६.

(ख) समवायाङ्गसूत्र, सम्पा० मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८२, समवाय ४४, सूत्र २५८.

७. देविंदत्थओ (देवेन्द्रस्तव), आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, प्रथम संस्करण १९८८, भूमिका, पृ० १८-२२.
८. Sambodhi, Institute of Indology, Ahmedabad, Vol. XVIII, Year 1992-93, pp. 74-76.
९. आराधनापताका (आचार्य वीरभद्र), गाथा ९८७.
१०. दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ३, पं० १२ — उद्धृत पइण्णयसुत्ताइं, भाग १, प्रस्तावना, पृ० १९.
११. (क) देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक, गाथा ३१०.
(ख) ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक, गाथा ४०३-४०५.
१२. देविंदत्थओ, भूमिका, पृ० १८-२२.
१३. पिंडनिर्युक्ति, गाथा ४९८.
१४. (क) कुसलाणुबंधि अध्ययन प्रकीर्णक, गाथा ६३.
(ख) भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, गाथा १७२.
१५. गच्छायार पइण्णयं (गच्छाचार-प्रकीर्णक), आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, संस्करण १९९४, भूमिका, पृ० २०-२१.

जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास

आध्यात्मिक विकास का प्रत्यय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना महत्त्वपूर्ण आत्म-पूर्णता की अवधारणा है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों का विवेचन हुआ है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि उसमें इन विभिन्न स्तरों का विवेचन व्यवहार दृष्टि से ही किया गया है। पारमार्थिक (तत्त्व) दृष्टि से तो परमतत्त्व या आत्मा सदैव ही अविकारी है। उसमें विकास की कोई प्रक्रिया होती ही नहीं है। वह तो बन्धन और मुक्ति, विकास और पतन से परे या निरपेक्ष है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — आत्मा गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान नामक विकास-पतन की प्रक्रियाओं से भिन्न है।[१] इसी बात का समर्थन प्रोफेसर रमाकान्त त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'स्पिनोजा इन दि लाइट ऑफ़ वेदान्त' में किया है। स्पिनोजा के अनुसार आध्यात्मिक मूल-तत्त्व न तो विकास की स्थिति में है और न प्रयास की स्थिति में।[२] लेकिन जैन-विचारणा में तो व्यवहार-दृष्टि भी उतनी ही यथार्थ है जितनी कि परमार्थ या निश्चयदृष्टि, चाहे विकास की प्रक्रियाएँ व्यवहारनय (पर्यायदृष्टि) का ही विषय हों; लेकिन इससे उसकी यथार्थता में कोई कमी नहीं होती।

आत्मा की तीन अवस्थाएँ

जैन दर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही साधना का लक्ष्य माना गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना होता है। ये श्रेणियाँ साधक की साधना की ऊँचाइयों की मापक हैं, लेकिन विकास तो एक मध्य अवस्था है। उसके एक ओर अविकास की अवस्था है और दूसरी ओर पूर्णता की। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए जैनाचार्यों ने आत्मा की तीन अवस्थाओं का विवेचन किया है — १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।[३]

आत्मा के इन तीन प्रकारों की चर्चा जैन साहित्य में प्राचीन काल से उपलब्ध है। सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के 'मोक्षप्राभृत' (मोक्खपाहुड) में

आत्मा की तीन अवस्थाओं की स्पष्ट चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि इसके बीज हमें आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी उपलब्ध होते हैं। 'आचारांग' में यद्यपि स्पष्ट रूप से बहिरात्मा, अन्तरात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है किन्तु उसमें इन तीनों ही प्रकार की आत्माओं के लक्षणों का विवेचन उपलब्ध हो जाता है।[४] बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मन्द और मूढ़ के नाम से अभिहित किया गया है। ये आत्माएँ ममत्व से युक्त होती हैं और बाह्य विषयों में रस लेती हैं। अन्तर्मुखी आत्मा को पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी के नाम से चित्रित किया गया है। अनन्यदर्शी शब्द ही उनकी अन्तर्मुखता को स्पष्ट कर देता है। इनके लिंये मुनि शब्द का प्रयोग भी हुआ है। आचारांग के अनुसार ये वे लोग हैं जिन्होंने संसार के स्वरूप को जानकर लोकेषणा का त्याग कर दिया है। पापविरत एवं सम्यग्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार आचारांग में मुक्त आत्मा के स्वरूप का विवेचन भी उपलब्ध होता है। उसे विमुक्त, पारगामी तथा तर्क और वाणी से अगम्य बताया गया है।

आत्मा के इस त्रिविध वर्गीकरण का प्रमुख श्रेय तो आचार्य कुन्दकुन्द को ही जाता है।[५] परवर्ती सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने इन्हीं का अनुकरण किया है। कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दु, हरिभद्र, आनन्दघन और यशोविजय आदि सभी ने अपनी रचनाओं में आत्मा के उपर्युक्त तीन प्रकारों का उल्लेख किया है —

१. बहिरात्मा : जैनाचार्यों ने उस आत्मा को बहिरात्मा कहा है, जो सांसारिक विषय-भोगों में रुचि रखता है। परपदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगों में आसक्त बना रहता है। बहिरात्मा देहात्म बुद्धि और मिथ्यात्व से युक्त होता है।[६] यह चेतना की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति है।

२. अन्तरात्मा : बाह्य विषयों से विमुख होकर अपने अन्तर में झाँकना अन्तरात्मा का लक्षण है। अन्तरात्मा आत्माभिमुख होता है एवं स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है। यह ज्ञाता-द्रष्टा भाव की स्थिति है। अन्तर्मुखी आत्मा देहात्म बुद्धि से रहित होता है क्योंकि वह आत्मा और शरीर अर्थात् स्व और पर की भिन्नता को भेदविज्ञान के द्वारा जान लेता है।[७] अन्तरात्मा के भी तीन भेद किये गए हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि सबसे निम्न प्रकार का अन्तरात्मा है। देश-विरत गृहस्थ, उपासक और प्रमत्त मुनि मध्यम प्रकार के अन्तरात्मा हैं और अप्रमत्त योगी या मुनि उत्तम प्रकार के अन्तरात्मा हैं।

३. परमात्मा : कर्म-मल से रहित, राग-द्वेष का विजेता, सर्वज्ञ और

सर्वदर्शी आत्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के दो भेद किये गए हैं — अर्हत् और सिद्ध। जीवनमुक्त आत्मा अर्हत् कहा जाता है और विदेहमुक्त आत्मा सिद्ध कहा जाता है।[८]

कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार आत्मा के तीन भेद — ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा — किये गए हैं। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञानात्मा, बहिरात्मा, महदात्मा, अन्तरात्मा और शान्तात्मा परमात्मा है।

मोक्षप्राभृत, नियमसार, रयणसार, योगसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि सभी में तीनों प्रकार की आत्माओं के यही लक्षण किये गए हैं।

आत्मा की इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः १. मिथ्यादर्शीआत्मा, २. सम्यग्दर्शीआत्मा और ३. सर्वदर्शीआत्मा भी कहते हैं। साधना की दृष्टि से हम इन्हें क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्धावस्था कह सकते हैं। अपेक्षा-भेद से नैतिकता के आधार पर इन तीनों अवस्थाओं को १. अनैतिकता की अवस्था, २. नैतिकता की अवस्था और ३. अतिनैतिकता की अवस्था कहा जा सकता है। पहली अवस्था वाला व्यक्ति दुराचारी या दुरात्मा है, दूसरी अवस्था वाला सदाचारी या महात्मा है और तीसरी अवस्था वाला आदर्शात्मा या परमात्मा है। जैन दर्शन के गुणस्थान सिद्धान्तों में प्रथम से तीसरे गुणस्थान तक बहिरात्मा की अवस्था का चित्रण है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा की अवस्था का विवेचन है। शेष दो गुणस्थान आत्मा के परमात्म-स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। पण्डित सुखलालजी इन्हें क्रमशः आत्मा की (१) आध्यात्मिक अविकास की अवस्था, (२) आध्यात्मिक विकास-क्रम की अवस्था और (३) आध्यात्मिक पूर्णता या मोक्ष की अवस्था कहते हैं।[९]

सन्दर्भ

१. नियमसार, ७७.
२. स्पिनोजा इन दि लाइट ऑफ वेदान्त, पृ० ३८ टिप्पणी, १९९, २०४.
३. (अ) अध्यात्ममत परीक्षा, गा० १२५.
(ब) योगावतार, द्वात्रिंशिका, १७-१८.
(स) मोक्खपाहुड, ४.
४. देखिए — आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ३-४.
५. मोक्खपाहुड, ४.
६. वही, ५, ८, १०, ११.

७. वही, ५, ९.
८. वही, ५, ६, १२.
९. विशेष विवेचन एवं सन्दर्भ के लिये देखिये —
   (अ) दर्शन और चिन्तन, पृ० २७६-२७७.
   (ब) जैनधर्म, पृ० १४७.

ŚRAMAṆA

Third Monthly Research Journal of Pārśvanātha Vidyāpīṭha

Year-48] **Volume 4-6** **[April-June,1997**

For Publishing Articles, News, Advertisement and Membership, Contact

General Editor

Śarmaṇa

Pārśvanātha Vidyāpītha

I.T.I. Road, Karaundi

P.O. : B.H.U.

Varanasi - 221 005

Phone : 316521, 318046

Fax : 0542 — 316521

Annual Subscription

For Instituitions : Rs. 60.00
For Individual : Rs. 50.00
Single Issue : Rs. 15.00

Life Membership

For Institutions : Rs. 1000.00
For Individual : Rs. 500.00

ŚRAMAṆA

English Section
Articles of this Volume

The Heritage of the Last Arhat Mahāvīra

A Lecture by
Charlotte Krause

Published by
Parshvanath Vidyapeeth
Varanasi -5, (India)

The Heritage of the Last Arhat Mahāvira
Publisher : Parshvanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5
Phone. 316521

Reprinted from the book
"The Heritage of The Last Arhat"
A Lecture by
Charlotte Krause
Published by Shri Yashovijaya
Jaina Granthamala
Bhavanagar (Kathiawara), 1930

Price Rs. 20
1997

Type Setting at :
RAJESH COMPUTERS
D 59/378 k-2, Jai Prakash Nagar
Varanasi Ph. No. 220599

Publisher's Note

The book *'The Heritage of Last Arhat'* was first published in 1930 by Shri Phulchandji Ved, Secretary, Shri Yashovijaya Jain Granthamala, Bhavanagar. On demands of the readers Parshvanath Vidyapeeth decided to reprint this book to make it available to the readers. This is a compilation of the lectures delivered by Charlotte Krause long back. This scholarly monograph beautifully records the principal teachings of Lord Mahāvīra and their impact on the India's Social and Cultural Heritage.

Parshvanath Vidyapeeth feels emense pleasure in bringing out this edition on the eve of Lord Mahāvīra's 2596th Birth anniversary, (20th April, 1997) with minor change only in the title of the book.

We are very thankful to the author Charlotte Krause and authorities of the publisher Shri Yashovijaya Jain Granthamala Bhavanagar (Gujarat). We are also thankful to Prof. Sagarmal Jain, Director, Parashvanath Vidyapeeth, Dr. Rajjan Kumar and Dr. Shriprakash Pandey, lecturers at Vidyapeeth who managed to publish it through the press.

Our thanks are also due to Rajesh Computers and Vardhaman Mudranalaya for beautiful type setting and printing respectively.

B.N. Jain
Secretary
Parshvanath Vidyapeeth

The Heritage of the Last Arhat Mahāvīra

-Charlotte Krause

Relativity of Religious Truth

By birth and education, every one of us has been placed within the sphere of power of one or another of the great human civilizations, which exercised its influence on our bodily and mental triaining, and on the whole development of our personality, and even impressed on the mind of the majority, the stamp of its particular religious dogma. Strengthened by history, tradition, custom and convention, this network of influences fettered the individual nearly as firmly as those bonds of kinship do, that connect him with the race of his ancestors.

Still, as those bonds of kinship do not hinder a person from attaching himself with even stronger bonds, bonds of love and friendship, bonds of fellowship and mental affinity, to other, distant persons, just so that other bondage must not keep anybody back from glancing around himself, discovering merits in heterogeneous religions, and measuring his own conceptions by the noblest of theirs.

But then how to judge of the merit of a religion, how to know what is noble in it ? Is not one single religion, isolated from its sister-religions, like the isolated petal of a flower, the isolated note of a melody. Is it not, in its onesidedness, comparable to the opinion of a single one of that group of blind men, who, standing before an elephant for the first time in their lives, tried to define its nature. The first, who happened to touch its forehead, declared the elephant to be a big stone ; the second, from the touch of one of its tusks, defined it as a pointed weapon; the third, after touching the trunk, said the elephant was a leather bag ; the fourth caught hold of one of the ears, and defined the whole animal as a flapping fan ; the fifth, after passing his hand over its body, declared it to

be a mountain ; the sixth, who had touch one of the legs, said the elephant was a pillar ; and the seventh described it as a piece of rope, because he had just caught hold of the tail. Each of them grasped only part of the nature of the actual thing, and just so, each of the various religions on earth appears to make us see a different aspect of truth Divine. How, then are we entitled to speak of merit in one or another of them ?

Criterion of an ideal Religion,

As a matter of fact, the individual, whenever acting, endeavours to act so as to establish, or to maintain, an optimum (i.e. best possible degree) of physical well being, in response to its innate egotistic instincts. In this activity, it feels itself, often and again checked by another kind of inner voices, which (no matter whether they be called conscience, or categorical imperative, or social instincts, or whatever else), regularly warn it, whenever egotism tempts it to transgress one or another of the universal commandments of ethics, and to endanger, thereby, directly or indirectly, the well-being of the social body to which it belongs. Life seems to be nothing but an attempt of the individual to keep itself balancing, as it were, on the delicate line of demarcation between the postulates of egotism and those of ethics, avoiding to hurt its own interests on one, and those of society on the other side. This state of equilibrium is experienced, by the refined mind, as the optimum of inner happiness, attainable under the given juncture of circumstances. It is that bliss, that "Peace of God", Which religion promises to its followers.

For religion has always considered it, its task to indicate that line of demarcation, winding along between those two postulates. Every religion has approached this task with boldness and determination, and in its own peculiar way, following its own particular character and tradition. If a religion has succeeded in fulfilling its task well, its doctrines must guarantee a state of

perfect and permanent harmony between the well-being of the individual and that of society under whatever conditions imaginable. It is obvious that reversely, the degree and constancy of perfection characterizing the harmony of the above two factors, must allow us to judge of the merit of the religion by which it is being vouched for.

Measured by this standard, there can be no question as to the high value of Jainism, that time-honoured religion which goes back to teachings of Vardhamāna Mahāvīra, the great contemporary and countryman of Gautama Buddha, and to his predecessors : for its teachings seem to guarantee indeed "the greatest happiness of the greatest number" not only of men, but of living beings, under all circumstances imaginable. This is why I make bold to draw your attention on this extraordinarily fascinating and important subject to-day.

Perfect Social welfare warranted by Jainism.

According to Jainism, everything that lives has got a soul, or, to speak in the beautiful, concise language of the Scriptures, is a soul. And all the souls are fellow-creatures: the godlike recluse in his purity and unshakable peace, the active man of the world with his never resting ambitions, the innocent infant and the criminal, the lion and the nightingale, the cobra and the dragon-fly, the green leaf and the rose flower, the tiniest particle of water and the smallest of the corpuscles that compose the shining crystal, each of those myriads of being that form the wings of the breeze, and of those that waver in the scarlet glow of the fire : all are fellow-creatures, all are brothers. For all have got bodies, all have got senses, all have got instincts, all take food and digest it, all multiply, all are born and die, all are capable of suffering and enjoying, and all bear the germs of prefection within themselves. That means, all are able to develop, during the long chain of their respective existences subsequent to one another, their innate

dispositions of perception, knowledge, activity, and joy, to a degree of highest perfection. And all find themselves placed in the middle of the struggle against "*Karma*."

"*Karma*" designates that substance which we incessantly assimilate by our bodily and mental activity, and which remains latent in the depths of our personality, untill it "ripens" at the critical moment, destining the whole complex of our personality as far as it is foreign to "soul", and shaping our whole fate. We bind *Karma* by walking and speaking, by eating and breathing, by loving and hating, by helping and harming. And a different activity produces a different kind of *Karma*, which may ripen either immediately, or after some time, of even in one or another of our subsequent existences.

याद्दशं क्रियते कर्म ताद्दशं भुज्यते फलम् ।
याद्दशमुप्यते बीजं ताद्दशं प्राप्यते फलम् ।।

"To the actions we do, corresponds the result we have to incur, as the fruit corresponds to the seed that has been sown."

By acting in such a way as to do harm to others, we produce a *Karma* which will make us suffer to the adequate extent, and by acting so as to benefit others, we store up an adequate amount of latent happiness. There are more over, actions which destine our bodily constitution, our surroundings, and the length of our life, and there are actions which destine the limit within which we are allowed to perceive and to know, to enjoy and to be successful.

Thus, to bind *Karma* by good deeds, means to secure the basis of a happy lot ; to bind bad *Karma*, by evil deeds, means to sow the seeds of future sorrow ; and to stop the bondage of *Karma* completely, leads, if coupled with the consumption of all the remaining latent *Karmas*, to an elimination of everything that is non-soul in our personality. It means self-realization, it means that final state in which the soul, free from all encumbrance, is

soul and soul alone . soul in the fullest possession of perception, knowledge, strength, and joy. This is the state called *Mokṣa, i.e.* "Freedom", the "Salvation" of Jainism.

The acknowledgment of the Law of *Karma* as the commonest of all natural laws (the law of conservation of forces, as it were, in its application to the physical sphere) culminates in the glorification of the principles *of Ahiṁsā, i.e.* Non-injury, in Jainism. For, according to the law of *Karma,* a living being that causes a fellow-creature, even the lowest developed one, to suffer, be it in order to further its own advantage, or for any other reason, cannot do so without harming its own soul, *i.e.,* without tumbling down a greater or smaller distance from the height of inner development it has reached, and without experiencing, earlier or later, as a mechanical consequence, a disturbance of its own harmonious equilibrium. What means suffering to one, can never be a source of real joy to another, and wherever it appears to be so, it is because our means of perception hinder us from being aware of the slow, but sure effectiveness of this Law of "Eternal Justice." This explains why the saying *"Ahiṁsā Paramo Dharmaḥ" i.e.,* "Non-injury is the highest of all religious principles," acts such an important part in the daily life of the religiously inspired Jaina, whose sensible heart, a psychical galvanometer, as it were, warns him of every disturbance of well-being in the community of fellow-creatures around him, and spontaneously causes him to insert the resistance of self-control in the circuit of his own activity, or to restrain that of others in its proper course.

Strictly speaking, of all the religions that acknowledge the law of *Karma* in one shape or another, *i.e.,* practically of all the Indo-Aryan religions, it is Jainism with its all-comprising doctrine of soul, in which the principle of *Ahiṁsā* has got the highest theoretical as well as practical importance, and where its

place is substantiated more logically than anywhere else. Moreover, Jainism (unlike various other religious systems) does not believe the soul to be completely helpless in its dependence on *Karma i.e.* to be hopelessly, condemned to act and react, like an automation, upon the consequences of its former deeds, and to be therefore beyond all responsibility for its moral attitude and actions. But Jainism clearly states that individual is gifted with a certain amount of freedom will : a fact which none of all the writers on Jainism has up till now, duly emphasized. And still, this tenet forms one of the most important and most complicated chapters of the doctrine of *Karma*, as expounded exhaustively in the Jaina Scriptures. They state, it is true, that the soul is indeed constantly under the control of *Karma*, that its body and its sufferings and joys are indeed shaped by *Karma*, and that even those passions that shake it, and all the fatal instincts that arise in it, are predestined by *Karma* ; but, on the other hand, they most emphatically declare that the soul is endowed with the power of breaking, by its free resoluiton and activity, the most obnoxious of the fetters of this very *Karma*, of destroying its own evil dispositions, and of suffocating the flames of all the various kind of passion, before they can overpower it. That means nothing else but that the first and essential step towards religious activity is, according to Jainism, a pronounced act of free volition, and that the soul is indeed, to a considerable extent, the lord of its own fate.

Thus Jainism does not torpify its followers by the terrors of *Karma*, nor does it make them languish in unhealthy, effeminate fatalism, as many people think all Oriental religions do : but on the contrary, it trains the individual to become a true hero on the battle-field of self conquest.

For it does presuppose a great deal of heroism on the part of the hearer, to make him fully realize the cruel irony of this play

of life, *viz.*, how they all strive after happiness by all means of physical and mental activity, from eating, drinking, sleeping, dressing, up to sport and play, traffic and trade, art and science, strive after happiness at any cost, even at the cost of the well-being of others, and to reach, alas, just the contrary, *viz.*, the binding of undesirable *Karma*, and therewith latent sorrow and suffering. To make him realize all this, to make him know that he cannot even quietly sit and breathe without killing and harming life round about, killing and harming brother-souls, and adding thereby to the stock of his own misfortunes. To make him aware of it and still encourage him to take up the desperate struggle against this world of dark mights within and round about him.

How can he take up this desperate struggle?

कहं चरे कहं चिट्ठे कहासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बन्धइ ।।

"How to walk, how to stand, how to sit, how to lie down, how to eat, and how speak, without binding undesirable *Karma* ?"

The *Daśavaikālika Sūtra* (iv,7 f.) after giving a detailed description of the harm people do to other creatures merely by careless behaviour, puts these questions, and immediately lets the answer follow :

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बन्धइ ।।

"By walking with care, standing with care, sitting with care, lying down with care., the binding of undesirable *Karma* can be avoided".

The *Ācārāṅga Sūtra* discusses this subject in full breadth, and the *Sūtrakṛtāṅga Sūtra*, which goes more into the depth of the abstruse problem, goes so far as to state (II, 4) that the soul is binding bad *Karma* at any time whatsoever, even if it does not directly do evil actions, *i.e.*, even in sleep, or in a state of

unconsciousness. For, as a man who had made up his mind to kill a certain person at the first best opportunity, goes about with his murderous intention day and night, and as his subconscious mind is constantly filled with those hostile sentiments towards that person, just so the individual is constantly filled with hostile sentiments towards the whole of creation, as long as he is inwardly prepared to satisfy, as soon as they will arouse him, his physical instincts at the cost of the well-being of any other creature.

There is, according to the *Sūtras*, only one way by which the individual can save himself from binding bad *Karma*, and that is the "*Pratyākhyāna*", *i.e.*, the solemn vow of restriction concerning harmful acting. For it is not enough not to do evil deeds, after all, but one must avoid them with full intention and deliberation. Thus, one can *e.g.*, vow not to eat meat in order to give an assurance of safety, "*Abhayadāna*", the noblest of all gifts, to a large group of animals, one can vow to avoid eating at night, in order to put another kind to limit to one's actions connected with indirect harm to others, one can vow not to wear silk or fur, or leather foot-wear, for the benefit of the animals producing it, one can vow not to break flowers, or not to kill any animal whatsoever, down to worms and insects, one can vow not to waste any articles of daily use, such as water, fire, food, clothes, beyond one's actual requirements, one can vow not to encourage the captivating and training of wild animals for the shake of sport or amusement, by avoiding to visit shows, etc., referring thereto, and one can vow to avoid thousands of similar actions connected with direct or indirect injury to other creatures. There are various kinds of *Pratyākhyānas*, from *Pratyākhyānas* of single actions of the above characters, up-to the stereotype group of the five all-comprising *Pratyākhyānās*, called the *Pāñcā Mahāvrata*, or the Five Great Vows, *viz.*, the *Pratyākhyāna* of all physical injury whatsover, that of all verbal injury, that of appropriating things

arbitrarily, that of sexual intercourse and everything connected therewith, and that of keeping property or belongings of any kind. These five Vows are taken by every Jaina monk at the time of his initiation in a form of absolute strictness. They comprise not only the doing of those objectionable actions, but also the causing of their being done , and the approval one might give to their being done, by thought, word and action. The five Great Vows guarantee indeed the optimum of faultlessness attainable in this world. And this optimum is only attainable by persons of the highest qualities, who do not care to keep up any attachment whatsoever. Thus, (a genuine Jaina *Muni*, even one of the twentieth century, will never use any vehicle, nor shoes, nor keep money, nor touch a women, nor kindle, or sit before, a fire, nor use unboiled water, nor take any food containing a trace of life, nor such food as has been prepared expressly for him, nor touch a green plant, for fear lest its delicate body might suffer from his bodily warmth, nor keep any property except his begging-bowls, his stick, and the scanty clothes that cover his body. And even these few things cannot well be called "Property" in the sense of the Scriptures, because in their case, the characteristic which distinguishes property, *viz.*, the attachment of the owner, is wanting. And there are even a group of Jaina monks who renounce these few utensils too, walking about unclad, and using their hands as their eating vessels. But there are only a few of them, in the whole of India : the *"Digambara"* or Sky-clad monks, whereas the other branch the "*Svetāmbara*" or White-clad monks, come to several hundreds.

The standard of the usual *Pratyākhyānas* for laymen consists in the group of fixed *Pratyākhyānas* called the Twelve Laymen Vows, which can be taken in various shades of strictness and in an optional number. Though standing below the standard of the ascetical vows, still they represent a high form of ethical conduct.

Not only the Jaina monks, but also the laymen are very particular about taking and keeping (besides those groups of fundamental "vows", which are being taken only once in the whole life, and for lifelong) number of other, detached *Pratyākhyānas* of the above described character for an optional period. For the key to *"Mokṣa:"* constant binding alone can lead to final "Liberty." Thus, there is practically no Jaina who will eat meat or fish or fowl, or even eggs, and there is no Jaina who will intentionally and without purpose kill or trouble a harmless living creature, be it even a fly. Most Jainas even avoid potattoes, onions, garlic, and other vegetables believed to be endowed with a higher vitality, as well as eating at night; and most Jainas take; for certain days, the vow of abstention from green vegetables, or from travelling and moving out, or the vow of chastity and vows of innumerable other things.

The theoretical and practical valuation of the different kinds and shades of *Pratyākhyānas* depends not only on their duration, or on the quantity of the objects concerned, but first of all on their transcendental quality. For though all the souls, *i.e.,* all the living creatures, are equal in their original disposition, still they are observed to be in various phase of development towards perfection, in various stages of self-realization. According to the principle of economy, the higher developed ones are higher valued than the lower developed ones. Therefore, the *Karma* bound by harming a higher developed being is thought to be of graver consequences than that bound by injuring lower creature. Thus, plucking a handful of vegetables is, by far, less harmful than killing a cow ; killing a menacing tiger less harmful than the murder of a peaceful antepol ; or punishing a dangerous criminal is of less consequences than an offence done to saintly monk. This valuation, by-the-bye, seems to have a counterpart in those less refined, universally adopted conceptions, which, with all expressions of

disgust, condemn cannibalism, but do not object to the slaughtering of animals for culinary and other purposes ; or which strictly forbid the bloodshed of a human being, but allow the murdering of the murderer, or that of the assailing, or otherwise menacing, enemy, all of whom have ethics against them.

Thus much be said concerning the *Pratyākhyāna* of *Hiṁsā, i.e.,* Injury : that precaution against the binding of new latent suffering, by deliberate abstention form actions connected with harm to others.

It has its counterpart in the attempts of securing new latent happiness, by furthering the well-being of others. Though there is no hope of gaining genuine, *i.e.,* completely pure and unhampered happiness as long as any particles of *karma* of either kind mar the soul, still a certain amount of good *Karma* is a necessary condition, in order to secure that bodily and mental constitution from the basis of which the struggle against the obnoxious *Karma* is believed to be secured by charity, hospitality and selfless service. And here too, a gradation of objects can be observed. It is, of course, meritorious to practise charity whenever our heart is moved to compassion. It is meritorious to build *Pānjrāpoles* for the relief of poor sick animals, it is meritorious to provide the poor hungry with bread, people suffering from cold with clothes, and homeless ones with a roof over their heads : still nothing can come up to the service done to a poor pious brother in Mahāvīra. The more he comes up to the ideal laid down in the scriptures, the higher is considered to be the merit of serving him. This explains the remarkable zeal with which one can see *Śrāvakas* (laymen) hasten to feast a brother Jaina, especially on the day when the latter breaks a fast of long duration; and it accounts for the readiness with which a Jaina Community or Jaina Institution hastens to receive and to give facilities even to a foreign scholar, who happens to be student of Jainism, and whose learned activity in connection with Jainism

is considered to be an undoubted religious merit. And it explains, last but not least, the unspeakable pleasure and devotion with which a Jaina family sees approaching towards their door the saintly monk or nun, who will enter with the greeting of "*Dharmalābha*", or a similar formula, and will allow the lord or lady of the house to put a small quantity of eatables into their bowl, provided that this action includes no direct or indirect injury to anybody, and that everything is in strictest accordance with the rules of monastic conduct and decency.

Now I have been asked several times whether it is true that the Jainas, as alleged, carry the virtue of charity so far as to course, now and then, some poor wretch, (whom they pay off) to yield his body as a pasture-ground for lice and fleas and other amiable creatures, and let them have their fill. According to my firm conviction, this horrible allegation must be a bold invention. And if it is perhaps, against all probability, true that some ill-informed fanatic did such a thing, then he would have acted in straight opposition to the tenets of Jainism : for to make a being so highly developed as a human soul, suffer in such a degrading way, in the name of the humanest of all religions, would clearly fall under the heading of *Hiṁsā*, of worst and meanest injury, and would, besides, mean a downwright insult to religion in general.

Resuming, one can say that the social conduct prescribed by Jainism is characterized by the four attitudes "*Maitrī*", "*Pramoda*", "*Kāruṇya*" and "*Mādhyasthya*", which have been grouped together in the following stanzas :

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दु:खित: ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ।।
अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो य: स प्रमोद: प्रकीर्त्तित: ।।
दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धि: कारुण्यमभिधीयते ।।

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥

"By *Maitrī, i.e.,* amity, that mentality is meant which makes one wish that no creature should be suffering, and that the whole universe may find Salvation."

"*Pramoda, i.e.,* joy, designates the fullest appreciation of, and admiration for, the virtues of those who have shaken of all sin, and who can see through the essence of all things.

"*Kāruṇya, i.e.* compassion is that trend of mind which makes one wish to help all creatures in need, all that are afflicted, and all that beg for their lives."

"*Mādhyasthya, i.e.,* impartiality, is that in difference, or rather leniency one should always bear towards those who commit cruel actions, those who openly blashpheme the Divine, or the spiritual teacher, and those who are filled with arrogance."

Perfect Individual Welfare Warranted By Jainism.

It is clear that all such principles, put in action, guarantee such an amount of happiness and peace within the whole brotherhood of living creatures, such a paradise like state of general bliss, that one should wish them to be universally adopted and followed, to the benefit of all that lives.

On the other hand, it is true, they presuppose what appears to be a kind of sacrifice on behalf of the individual.

This apparent sacrifice at the cost of which that state of general well-being is being brought about, consists in a ceratin amount of the latter, which the individuals has evidently to renounce, in the case of even the most insignificant of the *Pratyākhyānas,* and in every one of in positive altruistic effrots.

It is clear that the equilibrium of personal and general well-being would indeed remain incomplete, and Jainism could not be

said to have fulfilled its nobel task in the ideal way claimed before, if the individual would feel the apparent sacrifice to be an infringement on its happiness. In reality, however, both the sides are in perfect equilibrium, for there are deliberations which not only reconcile the individual with that so-called "sacrifice", but make it realize that it is, on the contrary, benefitted by it, and that this benefit by far outweighs the apparent disadvantage.

First of all, the motivation of the very "sacrifice" is as we saw, an egotistic one : for if the individual submits to those restrictions, it does so in order to avoid the binding of unfavourable *Karma,* and therewith the storing up of latent suffering ; and if it recurs to those actions of positive altruism, it does so in order to bind favourable *Karma,* and to secure latent happiness.

And it performs both the kinds of actions, those of negative as well as those of positive altruism, with the assistance of certain of its own natural dispositions, which form part of its "conscience". I mean those emotions of sympathy and compassion, which make us place ourselves in the situations of a suffering creatures, and suffer, as it were, with it, especiallly when we have reason to feel ourselves responsible for its sufferings, as in the case of a nightflutterer rushing into the light we allowed to burn uncovered, in our carelessness; or in the case of a bird which was starved in its cage through our forgetfulness, or in the case of a helpless deer which we killed with our own hand, in a fit of huntsman's zeal, and the sight of whose mutilated body makes us, after all, sick and miserable. It is that universal postulate which Hemacandra, the great Ācārya and teacher of King Kumārapāla of Gujrat, has expressed in that often-quoted stanza (*Yogaśāstra* II,20).

आत्मवत्सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥

"In happiness and suffering, in joy and grief, we should

regard all creatures as we regard our own self, and should therefore, refrain from inflicting upon others, such injury as would appear undesirable to us, if inflicted upon ourselves."

Akin to dispositions of this kind is certain sense of chivalrousness, a certain generosity, which overcomes us, whenever we see a small innocent creature being at our mercy, provided our mind is calm enough to visualize its utter helplessness : that feeling which unfailingly over-comes even the case-hardened hunter, at the occasion of battue-shooting, and which makes him, perhaps for an instant only regret to have joined such an ungentlemanlike sport as this wholesale slaughter of helpless creatures surely is.

Another feeling of this kind is a certain instinct of economy, which, with sensible, proves a powerful pleader in favour of *Ahiṁsā* : I mean that spontaneous conviction that it is not right to kill, or to cause to be killed, such a higher organised creature as a pigeon or a deer or a cow in order to flatter one's gluttonous appetite, when a dish of well -dressed vegetables would serve the same purpose just as well, if not better.

The appeasement of all these, and others of our social instincts, by avoiding harming and trying to benefit fellow-creatures, is, after all, in itself a valuable personal gain.

In addition to avoiding bad and securing good *Karma* and to appeasing its innate social instincts, the individual gains, by its non-egotistic attitude, a third advantage which is perhaps the most valuable of all ; it consists in the lasting and genuine bliss which renunciation only can give.

For what is the good of trying to gratify all one's wishes, all one's passions, all one's ambitions ? Is the advantage gained thereby, indeed worth so much hankering, so much worrying, and so much harming ? No, says the sage : the happiness we crave for,

is transient like a dream, like a cloud, like beauty. It leaves the bitterness of its absence behind, as soon as it is passed, and it leaves behind, like a dose of opium, the ardent craving for more and more. It is just so as the *Uttarādhyayana Sūtra* states (IX,48)

सुवन्नरुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

"Let there be mountains of gold and silver, let them be as high as the Kailāsa, and let there be innumerable of them : still to man in his greediness, all this will mean nothing for desire is boundless like space."

So what is the good of a drop of nectar, when you are thirsty for a cup-ful ? The cup-ful being denied to you, why bother about the drop. Shake off that foolish wish and forget it.

And further, if gained, the happiness, you crave for, means possession. Possession of land or fortune , of houses or fields, of beauty or skill, of friends or family, of honour or reputation. And possession involves the sorrow of its maintenance. You have incessantly to take care of your land and of your fortune, you have to recur to lots of contrivances, if you want to preserve your beauty or to retain your skill, you have to bring sacrifice over sacrifice for your friends and your family, you tremble for their lives, when sickness shakes them, and suffer agonies when fate separates you from them, and the concern about his position and reputation has even proved able to urge a person to suicide and other desperate steps. In short, to speak in the words of Bhartṛhari, the great Sanskrit epigrammatic writer :

सर्वं वस्तु भयान्वितं क्षितितले वैराग्यमेवाभयम् ।

"Everything on earth is unstable. The only stable thing is *Vairāgya (i.e.,* world-weariness)."

What is the good of a happiness including so much agony ?

what is the good of this feasting with the Damocles-sword of sorrow threatening above your head ? Would it not be much better to give up all this possession guaranteeing such a doubtful happiness ? To give it up as those saints of old did, of whom the *Uttarādhyayana Sūtra* (IX.15 f.) says :

चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जइ ॥

बहुं खु मुणिणो भद्दमणागारस्स भिक्खुणो ।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स एगंतमणुपस्सओ ॥

"To the begging monk, who has given up family-life and all secular activity, nothing appears desirable and nothing undesirable."

"Great indeed is the bliss of the monk, the homeless beggar, who is free from all attachment, and who is aware of his solitude (which includes the metaphysical solitude of the soul)."

And then, says the wise, whether you hanker for its gain, or trouble for its preservation : all this happiness you are so particular about, means slavery in the last end. The anxiety you feel about it, fills your mind, and mars your thinking from morn till night, so that, in your continuous worrying about your business, your position, your hobbies, your friends, your pleasures, and your wife and children, you do not find so much time as to ask yourself why you are doing all that, what you live for, and where you are steering to. You think that you do not care to ponder over it. But in reality, you are not free to do so, because you are the slave of your attachment to that empty, transient bit of happiness, which is, in reality, no happiness at all. Would it not be much better for you to be unconnected with all this, to be your own master, to be like the *Ṛṣis* and *Munis* of old, who, in their solitary meditations, unhampered by secular considerations, without comfort and

property, without wife and children, without ambition and position, were, in reality, the lords of the world ?

> अर्थानामर्जने दु:खमर्जितानां च रक्षणे ।
> आये दु:खं व्यये दु:ख धिग् द्रव्यं दु:खवर्धनम् ॥
>
> अपायबहुलं पापं ये परित्यज्य संश्रिताः ।
> तपोवनं महासत्त्वास्ते धन्यास्ते तपस्विनः ॥
>
> "The acquisition of property, and, if acquired, its presrevation, both are connected with trouble. There is trouble in earning, and trouble in spending. Therefore, cursed be property, the increaser of unhappiness!"
>
> "Blessed are those ascetics, great souls are those ascetics, who gave up sin, the producer of so much suffering, and who have found a place of refuge in the grove of a hermitage."

It is not without reasons that people in India have been giving to such "great souls", titles like "*Svāmī*", "*Mahārāja'* and others, which, in olden times, were applicable only to the truly renouncing ascetics, who were living examples of the fact that renunciation means power, and who indeed experienced the royal happiness of asceticism, where there is :

> न च राजभयं न च चोरभयं
> इहलोकसुखं परलोकहितम् ।
> नरदेवनतं वरकीर्त्तिकरं
> श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम् ॥
>
> "No fear of the king, no fear of robbers, happiness in this, and bliss in the next world, reverence shown by men and gods, and the acquisition of true fame : delightful is this ascetical life."

Or, in other words :

न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्त्तिन: ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीतिन: ॥

"Nothing is the happiness of the king of the gods. nothing the happiness of the emperor of the world, compared to the happiness of the world-weary monk in his solitude".

All such considerations lead to the second great postulate of Jainism : *Saṁyama* or Renunciation, *i.e.* continuous self-control practised by giving up one's regards for physical happiness.

According to the Jaina conceptions, the individual is free to embrace whatever degree of renunciation he deems appropriate to his personal convictions and abilities. Just as Non-injury, *Saṁyama* also can be resorted to by various kinds of *Pratyākhyānas.* And, since Non-injury itself is not practicable without *Saṁyama.* and *Saṁyama;* on the other hand , vouchasafes Non-injury, the *Pratyākhyānas* concerning the former, practically fall together with those concerning the latter great principle. Thus, the climax of the *Pratyākhyānas* concerning Non-injury, *viz.* the five great vows of monks : non-harming, non-lying, non-stealing, sexual renunciation, and non-property, form at the same time, also the climax of the *Pratyākhyānas* concerning *Saṁyama.* The object is all the same, it is only the stand-point that has changed. For to the duty of avoiding objectionable actions as far as they are fit to harm others, is being added the further obligation of avoiding them also as far as they are fit to disturb one's own equilibrium and calmness of mind, and to detract one from that religious activity so essential for one's real welfare. Thus the principle of *Saṁyama* stands in the foreground especially in such particulars as the absolute prohibition of heavy food, of aphrodisiacs, excessive sleep, sexual activity, intoxicating substances etc. for monks, and in the obligation of laymen to give up some of these things partially

and some totally. The explicit command of the Scriptures never to give way to any of the four fundamental passions, *Viz.* anger, pride, deceit, and covetousness, of which the last includes all kinds of attachment of lifeless as well as living things and many other regulations, fall likewise under this heading, notwithstanding their being rooted in *Ahiṁsā* after all.

Another important expedient of securing one's personal metaphysical advantage in fullest accordance with the laws of ethics, is very closely akin to, and based on, renunciation : I mean *Tapa, i.e.* austerity, or selfimposed suffering undertaken for religious reasons. The purpose which the Jaina has in view when practising austerities, can be understood from the idea that all suffering means a consummation of bad *Karma,* and that the voluntary undergoing of certain hardships has to further advantage of giving, at the same time, valuable assistance in the realization of the two great principles *Ahiṁsā and Saṁyama.* Thus :

सउणी जइ पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयइ धंसयइ सियं रयम् ।
एवं दविओवहाणवं कम्मं रव्रइ तवस्सी माहणे ।।

(Daśavaikālika Sūtra).

"As a bird gets rid of the dust with which it is covered, by shaking itself, just so the monk, who practises austerites, consumes and shakes off his *karma*"

To get rid of *Karma* is (as we saw before) the first step towards self-realization, and therewith to the highest transcendental bliss. This is the reason why austerity plays such an important part in the life of the Jaina, be he a monk or a layman. According to the Jaina Scriptures, there are various ways of practising austerities, all of which are being started with the respective *Pratyākhyānas* too after their duration and other items have been accurately fixed. With reference to *Tapa,* there are *Pratyākhyānas* by which the quality, quantity, or time of one's

meals is being reduced, from the simple giving up of special kinds of food, or of eating at night, and from partial fasts, and fasts of a whole day or several days, upto fasts of more than a month's duration. There are, moreover, *Pratyākhyānas* by which one binds oneself to practise certain ascetical postures, to meditate for a fixed time, to devote a certain time to the regular study of religious works, or to the service of co-religionists etc. Several forms of austerity are at the same time recommended as strengthening and hardening one's bodily and mental powers, as e.g. the *Āyambila* Fast, a kind of bread-and-water diet (excluding all milk, fat, sugar, spices etc.) and also certain *Āsanas*, or ascetic postures indeed do, if observed within certain limits. Of quite a different character is the austerity called *Sallekhanā*, or *Saṁlekhanā*, by which the individual solemnly resigns all food for the rest of his life, under formalities dealt with in the *Āvaśyaka Sūtra*, the whole last chapter of which is devoted exclusively to the subject "*Pratyākhyānas*". This form of austerity is indeed being recurred to be very pious people at the time when they feel death positively approaching.

Thus it is true that under certain circumstances, Jainism does allow the vow of starvation. But it would be wrong to infer therefor that its ideal is the extinguishment of personal activity at all. Just the contrary is true. Jainism promulgates self-realization as the aim of individual life: a self-realization which, at the same time, also forms the basis of the well-being of all that lives. The achievement of this self-realization presupposes, on the part of the individual, the highest exertion of all bodily and mental powers, a constant wakefulness, and an iron will, which precisely obeys the behests of intellect, bravely resisting all kinds of internal and external temptations. More practically speaking, it presupposes a reasonable kind of self-preservation in the narrowest limits possible. There is a parable, according to which six hungry

travellers came to a mango-tree and consulted as to how best to obtain its fruit. The first suggested to uproot the whole tree, as the promptest expedient, the second said that it would just do to cut the crown, the third wanted to cut some taller, the fourth some smaller branches, the fifth suggested that they should merely pluck as many fruits as thay required, and the last said that the ripe fruits which the wind had blown down into the grass, were amply sufficient to appease their hunger. The six men symbolize, in the above succession, th six *Leśyās* or "Śoul-colours" representing types of graded inner purity. It is quite characteristic of the spirit of Jainism that the representative of the white colour, i.e., the type of highest purity, advises to eat the fruits fallen into the grass, but not, as absolute and one sided negation of life would suggest, to sit down in fullest renunciation, and die of hunger.

The postulate of Self-preservation within the reasonable limits of ethical decency is clearly and directly pronounced in the Jaina Scriptures, which, in critical cases, recommend it even at the cost of renunciation or *Saṁyama*:

सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई ॥
खंजमहेउ देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे ।
संजमफाइनिमित्तं देहपरिपालना इट्ठा ॥

(Oghaniryukti. Stanzas 47-48.)

"Before all, one should guard the rules of renunciation, but even at the cost of renunciation, one should guard one's self. For one can get rid again of the sin of transgression, if one atones for it afterwards (by austerities), and it is, as a matter of fact, not a case of *Avirati (i.e.,* the state of not being under any *Pratyākhyānas* whatsoever, or the state of religious licentiousness)".

"The body is the instrument of renunciation. How could

> a man perform renunciation without the help of his body ? Therefore, it is desirable to preserve one's body in order to increase one's *Saṁyama.*"

Thus, even the rules laid down for monks,-for these two stanzas refer to monastic conduct, - stand under the immediate influence of this principle. The monk, it is true, is supposed to fast and to renounce, to observe absolute chastity to meditate and to suffer all kinds of inconveniences and hardships ; but he has, on the other hand, to follow special prescriptions as to how to accept, within narrow limits, pure food and other requisites offered, how to walk and how to sleep, how to sit and how to speak, how to serve fellow-ascetics, and how to receive their service, how to preach and how to dispute, how to work and how to move in the world as it is, with its saints and its criminals, its laymen and laywomen, its Hindus and Bauddhas, its scholars and peasants, and its kings and beggars.

In short, he is taught how to regulate his whole bodily and mental activity in such a way as to be in constant and undisturbed harmony with all that lives around him, under all conditions given. He is shown the way how to secure the optimum of his own personal happiness in such a manner as to contribute, even thereby, to the welfare of the world. Or he is taught how to help making the world more perfect by increasing his own prefection.

Thus , the very secret of Jainism is contained in the three important words *Ahiṁsā or* Non-injury, *Saṁyama*, or Renunciation, and *Tapa*, or Austerity : words which the famous first stanza of the *Daśavaikālika Sūtra* so beautifully groups together as the essence of *Dharma, i.e.,* Religion :

धम्मो मंगलमुक्किट्ठमहिंसा संजमो तवो ।
देवाऽवि तं नमंस्संति जस्स धम्मे सया मणो ॥

"Religion is the highest of all blessings : it comprises

Ahiṁsā, Saṁyama, and *Tapa*. Even the gods bow down to him whose mind is always centred in religion."

Then the *Sūtra* continues with the following classical verses, which are, like the above one, amongst the words to be daily recited by monks :

जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥
एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणारया ॥
वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते पुप्फेसु भमरा जहा ॥
महुगारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो ॥

"As the bee drinks honey from the blossoms of a tree and gets seated, without causing pain to the blossom,"
"Just so are those monks, who have given up all attachment and who are truly the "good ones" (original: "*Sādhu*", *i.e.* also "monks") in the world. As the bees are with the blossoms, so are they gratified with begging their alms."
"Their device is "Let us find something to live on, without any creature being harmed". This is why they go in quest of what they find ready, as the bee does on the blossoms".
"Wise are those who act like the bees, and who are free from all bonds of dependence. Pleased they are with any food they obtain, and ever self-controlled. This is why they are called "*Sādhus*" (*i.e.* "the good ones" and "monks").

The ideal of what human life can be like, and ought to be like, in the light of all these conceptions, is illustrated by the figure of the *Jina*, or *Arhat*, the supposed initiator of a new period of

reawakening Jainism after a period of decay. Many such *Arhats* are related to have appeared on earth before, many are said to be living even now in distant regions, and many, to be expected in future too. The *Jina or Arhat* is man on the summit of perfection, man at the threshold of *Mokṣa,* ready to enter *Siddhaśilā,* the place of eternal bliss, from where there is no return into this world of imperfection.

His *Karmas,* with the exception of some neutral ones, are fallen off from him, and the innate qualities of his soul are expanded in fullest beauty and majesty. He is omniscient, all-perceiving, filled with infinite joy and infinite strength. He is free from all passion and attachment, free from desire-for desire is nothing but an expression of imperfection-, and yet he is man, and has to keep his human body as long as the neutral rest of his *Karmas* force him to keep it. He is man, and, as one part of Jaina tradition, that of the Śvetāmbara branch, so beautifully suggests, has to satisfy the requirements of his human body : he begs his food, and he eats and drinks, within the limits prescribed for a monk, since the rest of *Karmas* require him to do so. And the rest of his *Karmas* also require him to live exclusively for the benefit of the world, *i.e.,* of those souls that are still in the bonds of dangerous *karmas.* For as long as he lives in his human shape, he goes about, showing to the whole of creation, the right path, by preaching and teaching, and by the example of his own model life. And it is obvious that the activity and life of the Perfect One must indeed turn out to be a blessing, for he cannot but attract crowds of followers and imitators.

This is what the Jaina worship as his highest religious ideal, his "god" if one chooses to say so. He adorns his statue with pearls and diamonds, with roses and jasmine, and costly champak flowers, he fans it, as one fans a great king, with white chowries, he burns sweet frankincense before it, and builds

beautiful temples over it, beautiful and costly as fairy palaces, and he takes it round the city in gorgeous processions, on golden cars, followed by crowds of singing women in gay-coloured, gold-glittering *sarees :* still he knows that his god dwells high beyond all this, and that all this *Bhakti*, or pious service, is nothing but an expression of his own admiration for his chosen ideal, and a kind of expedient to bring it closer before his eyes and the eyes of the world, both of whom are pretty well in need of it.

Jinahood shares the quality of all ideals, to be, in spite of- or perhaps just on account of--its undiminished and undiminishable attractiveness-high above the bodily and mental standards of his admires and imitators. And even Jaina-monkhood, its reflection on the rough mirror of actual life, is high above the standards of average man, and will-owing to the diversity of human dispositions,- always remain restricted to a few privileged individuals, wanderers as it were on the heights of humanity. Since the institution of monkhood, and all the other institutions of Jainism, presuppose the world as it really is, and humanity as it really is, the Scriptures do not account for the question as to what would become of the universe, if all people would turn monks. Therefore, it will always remain undecided whether that venerable *Muni* was right, who replied to the idle questioner that in such a case the good *Karmas* of mankind would cause wish-trees to grow, and streams of *Amṛta* to flow, and gods to descend from their celestical abodes to serve their feet.

But even if it is not possible for every body perfectly to come up to that ideal, still, merely acknowledging it to be an ideal, and trying to cultivate as many of its virtues as one's constitution allows, even thus much is considered to be a step towards advancement.

This is, expressed just in a few words, what I think to be the innermost secret of Jainism, and what is, at the same time, a

mental attitude without which a real advancement of human culture is not possible. We are living in a generations which, by all means imaginable, encourages a boundless egotism on one side, and on the other, an unrestrained violence offered to living creatures, in the shape of slaughter and war and misery ; and then we think that our egotism can be satiated by regardlessness towards others, and that the violence we suffer can be abolished by our doing violence to others. Has there ever been a greater and more fearful mistake ? Why not acknowledge now that we have been wrong, and that the way we have taken to, must lead to a hopeless degeneration ? Why not comprehend at last that egotism cannot succeed, unless it dissolves lead to perfect individual bliss ? This clear and simple axiom is the basis of that time-honoured doctrine which forms the legacy of the last *Arhat,* and which, even if taken as a symbol, still represents such a noble image of Eternal Truth.

Having been asked so often as to what I think to be the merit of Jainism as a practical religion,I have tried to give a short answer to-day, which the general public might be able and willing to follow, at first sight, it might appear to be a one-sided answer, beacuse it is based solely on the problem of the mutual relations of individual and society. Still, this problem being one of vital importance, and it being, as I said before, the very touch-stone by which the value expatiations may stand, as a kind of introduction into the spirit of Jainism.

Mahāvīra

by

Amar Chand

Publisher :

Parshvanath Vidyapeeth

Varanasi (India)

'Mahāvīra'
by Amar chand

Reprinted by
Parashvanath Vidyapeeth
I.T.I Road Karaundi,
B.H.U. - 221005
Phone - 316521

Second Edition, 1997
Price - Rs. 10/=

Type Setting at.
Rajesh Computers
D 59/378 k-2 Jai Prakash Nagar
(Behind Nagar Nigam)
Varanasi 221 103 Phone - 220599

Printed at :
Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur,Varanasi-10

Publisher's Note

Dealing with brief life sketch of Lord Mahāvīra there have been brought out a number of monograph which, in there limited frame try to discuss the main events of Lord Mahāvīra's life. The present title *'Mahāvīra'* by Shri Amar Chand sucessfully depicts the prime events of Lord Mahāvīra's life along with his principal teachings. Previously it was published in 1953 by Pt. Dalsukh Malvania, Secretary Jaina Cultural Research Society which has been now merged into Parshvanath Vidyapeeth .

Parshvanath Vidyapeeth feels emense pleasure in bringing out this reprinted edition on the eve of Lord Mahāvira's 2596th Birth anniversary (20th April, 1997) under its scheme of publication of 'Old and valuable books and manuscripts'.

We are very thankful to Prof. Sagarmal Jain Director and Dr. Shriprakash Pandey, Lecturer in Jainology for seeing this book through the press.

Our thanks are also due to Rajesh Computers and Vardhaman Mudranalaya for beautiful type setting and excellent printing respectively.

B.N. Jain
Secretary
Parshvanath Vidyapeeth

MAHĀVĪRA

-Amar Chand

Conditions of the Country

The sixth century B.C. is one of the cardinal epochs in human history. It was the age of extraordinary mental stir and spiritual unrest practically all over the world. For instance, Socrates in Greece, Zoroaster in Persia, and Lao Tse and Confucious in China marked a revolution in the thoughts of those countries. The appearance in India of Mahāvīra and the Buddha, in the same way, meant the advent of philosophical rationalism.

In Indian society, this age was in various ways economically, socially, religiously and even politically, a period of transition and uncertainty. From the simple, and, on the whole, republican social organisation of the Vedic times, the country had been passing through a process of gradual stratification until by this time, caste distinction and priestly oligarchy had become a means of popular exploitation and a source of enormous social irritation. Rituals and ceremonies came to be worked out in endless details, and most fanciful and mystic significance was attached to them. Bloody sacrifices became the order of the age and lasted for weeks, months and even years. Śūdras, the fourth and the lower-most caste, which formed a bulk of the population, were not only socially boycotted, but their very existence was questioned and even bare necessities of human-life were refused to them.

Such a state of things was very disconcerting to the considerate and serious-minded section of the society. Lord Pārśvanātha, the 23rd *Tīrthaṅkara* had preached against the existing evils of the society some 250 years before the advent of Mahāvīra. But after his death, society was again condemned to yet worse state of affairs. It was in the above circumstances that Mahāvīra, the twenty-fourth and the last in the galaxy of *Tīrthaṅkaras*, was born.

Parentage

The birth place of Mahāvīra was Kuṇḍagrāma, which was a suburb of the flourishing town of Vaiśālī, about 27 miles north of modern Patna. It was an important seat of the Jnātṛka Kṣatriya clan, otherwise named Nāya or Nāta. It was oligarchic republic, its government being vested in a senate and presided over, with the title of king, by Mahāvīra's father Siddhārtha, also named Śreyāṁsa or Yaśāṁsa. He belonged to the Kāśypa *gotra*. The name of Mahāvīra's mother was Triśalā, also known as Videhadattā or Priyakāriṅī, of the Vāśiṣtha *gotra*. She was a sister of Ceṭaka, the powerful ruler of Videha, at whose call the Licchavīs and the Mallas rallied together for the purposes of offence and defence.

Birth

In the year B.C. 599, on the 13th day of the bright half of the moon, in the month Caitra, when Triśalā herself was in perfect health, Mahāvīra was born.

The *Kalpa Sūtra* speaks about the great rejoicings that took place in the family and the town on the birth of the child, about the great illumination of the houses and the streets, about the liberation of prisoners, and about the performance of numerous charitable deeds.

Names and Appellations

Mahāvīra has been remembered by numerous names, such as *Vaiśālīya*–citizen of Vaiśālī ; *Videha* son of Videhadettā ; *Arhat*–being worthy of veneration ; *Arihanta*–destroyer of enemies; *Aruhanta*–destroyer of the roots of *karmas*; *Śāsananāyaka*–head of the order ; *Buddha*–having attained the highest knowledge. In the Jaina Āgamas, he is referred to as Vardhamāna, because of the increase that had taken place in the silver and gold, the intensity of liberality, and the popularity of his parents ever since the moment he had been begotten. The gods gave him the appellation of Mahāvīra for his fortitude and hardihood in bearing patiently all sorts of privations and hardships,

for his strictly adhering to the rules of penance, and no less for his indifference to pleasure and pain.

The Buddhists, on the other hand, know him by the name of Nigaṇṭha Nāṭaputta. This was undoubtedly the name by which he was known to his other contemporaries. At the very face of it, this name is composed of two distinct epithets, the first of which is religious and the other secular. He was a *Nigaṇṭha (Nirgrantha)* in a literal as well as in a figurative sense-outwardly unclothed and inwardly free from worldly bonds and ties. His followers, accordingly, came to be known as *Nirgranthas,* and lay-followers as *Nigrantha-śrāvakas* or *Śramaṇopāsakas.* He was called Nāṭaputta because he was a scion of the Nāṭa clan.

He was also called *Jina* i.e . the conqueror of the *karmas*- the greatest enemies of the soul, and from this appellation Jainism derives its name. Mahāvīra's aversions to love and hatred earned for him the appellation of *Śramaṇa* or recluse. He is also called *Vīra, Ativīra, Sanmati, Siddha, Mukta,* and by a host of other names in the later Jaina literature.

All these are clearly qualitative names, that is to say, they are meant to draw our attention to certain qualities possessed by Mahāvīra.

Early Life

The facts of the early life of Mahāvīra are very few indeed as gleaned in early works. But the later accounts have connected him with certain anecdotes, myths and miracles. Here is one, illustrative of his supreme valour :

> "One day, while playing with his friends in the garden of his father, Mahāvīra saw an elephant which was mad with fury with juice flowing from his temples, rushing towards them. His companions--all boys, shocked and frightened on the sight of the impending danger, deserted their comrade and ran away. Without losing a moment, Mahāvīra made up his mind to face the danger

squarely, went towards the elephant caught hold of his trunk with his strong hands, and mounted his back atonce.'

In person, Mahāvīra was very handsome and impressive. The several names by which he is called indicate that the chief quality of his character was courage and valour. He was intelligent and possessed of a very keen intellect. The *Sūtras* mention that from his very birth, he possessed supreme, unlimited, and unimpeded knowledge and intuition, and had the aspirations of a man of knowledge.

Mahāvīra's early life was spent in a royal atmosphere tempered with healthy influence of a republican character. His upbringing was quite balanced and his development was perfectly proportionate. His early years were spent in comfort, but not in luxury. His ambition was that to conquer, but not with a view to mastery over others. From his later thinking we find that he was deeply influenced by the democratic ethos of the society in which he was brought up. He was also impressed by the inadequate application of this ethos in the political, economic and social life of the community without its being based upon a really democratic religious system, so that later on he took it upon himself to work out and propagate a system of complete spiritual democracy in the form of Jainism.

Mahāvīra was an unusually reflective lad from his early childhood, and thought of renunciation in his early youth. He was, however, always prevailed upon by his affectionate parents to change his resolve, In order to create around him a luscious atmosphere of amusement and pleasure, and to engage his mind in worldly things, they married Mahāvīra to an exceedingly charming princess, Yaśodā, of the Kauṇḍinya *gotra*, and a daughter Anujā or Priyadarśanā was born to them. This daughter, eventually, was married to a nobleman Jamāli, who after becoming a follower of his great father-in-law, ended by opposing him. Their child, or Mahāvīra's grand-daughter was named Yaśomatī or

Śeṣavatī. The Digambara accounts, however, differ on marriage.

Mahāvīra had no desire to hurt his parents if he could help it, and so he promised his mother that he would not renounce the world as long as his parents were alive. This would suggest that Mahāvīra was a dutiful and considerate son, although very strong in his determination, for in his twenty-eight year, when his parents died, he repeated his desire of renunciation to his elder brother. But the brother dissuaded him saying, 'the deaths of our parents are still fresh in our memories, your leaving us at this time would render our bereavement the more unbearable and painful.' Mahāvīra, therefore, live for two more years in the house.

Renunciation

Disgusted with the non-finality of the things of the world, and pursuaded by a desire to search for the ultimate Truth, Mahāvīra formally renounced all his secular bonds and set out for the life of a houseless monk. The great event has been somewhat poignantly described in the *Kalpa Sūtra* :

> 'In this age, in the first month of winter, in the dark fortnight of Mārgaśīrṣa, on its fifteenth day, when the shadow had turned towards the east and the first Pauruṣi was full and over, on the day called Suvrata, in the *muhūrta* Vijaya, in the palanquin Candraprabhā, Mahāvīra, followed on his way by a train of gods, men and asuras............... went right through Kuṇḍapura to a park called Ṣaṇḍavana of the Jñātṛkas and preceded to the excellent tree Aśoka.
>
> There under the excellent tree Aśoka, he caused his palanquin to stop, descended form his palanquin took off his ornaments, garlands, and finery with his own hands, and with his own hands plucked out his hair in five handfuls. When the moon was in conjunction with the asterism Uttarā-phālgunī, he, after fasting two and a half days without drinking water, put on a divine robe, and a

quite alone, nobody else being present, he tore out his hair and leaving the house entered the state of houselessness.'

The Jainas mark with great precision the five kinds of knowledge *(Jñāna)*. Mahāvīra was born with the first three *Mati, Śruta* and *Avadhi*. On the eve of his renunciation, he gained the fourth *Manaḥparyāya*, by which he knew the thoughts of all sentient beings, and it remained for him to obtain the fifth and the final degree of knowledge which is called *Kevala*.

The Ascetic Life

Mahāvīra's ascetic life, before his attainment of the highest spiritual knowledge lasted for more than twelve years. His parents were lay-disciples of the Order of Pārśvanātha. Mahāvīra, therefore, began his novitiate as an ascetical member of the same Order.

His habits of life during this period of preparation for the perfect knowledge may be briefly mentioned. He went about naked, possessed not even a bowl for collecting food, and ate in the hollow of his hands. He neglected his body completely. Many insects crawled on his person, bit him and caused him pain, but he bore it with patience. People were shocked at the sight of him. They shouted at him, and even struck him. For days and months he would observe silence, and remained absorbed in his thoughts. He avoided men as well as women, often gave no answers to questions put to him, and omitted to return greetings.

Penances

Mahāvīra's idea of *tapas* was that of *Saṁvara* or practice of self-restraint, with regard to body, speech and mind. In his view, austerities had to be inward as well as outward, and fasting, absolute chastity, and unmitigated meditation were its several forms. He therefore, performed a very prolonged course of severe penances for twelve years for the destruction of his *karmas*. This course comprehended uninterrupted meditation, unbroken chastity, and the most scrupulous observance of the rules concerning eating

and drinking. The account of his *sādhanā* given in the *Ācārāṅga* is literally soul-stirring.

He meditated day and night, undisturbed and unperturbed. Avoiding women, and giving up the company of householders, he realised singleness. He did not care for sleep for the sake of pleasure and slept only for short hours. In winter, he meditated in the shade, in summer he exposed himself to heat. He was free from sin and desire, and not attached to sounds or colours, and never acted carelessly. Thoroughly knowing the earth-bodies, fire-bodies, wind-bodies, the linchens, seeds and sproutes, and comprehending that they are, if narrowly inspected, imbued with life, he avoided all kinds of sins, and abstained from all sinful activities. He did not use what had expressly been prepared for him. Knowing measure in eating and drinking, he was not desirous of delicious food. For more then a couple of years, he led religious life without using cold water.

He remained circumspect in his walking, speaking, begging and obeying the calls of nature. He remained circumspect in his thoughts, words and acts. He guarded his thoughts, words, acts senses and chastity. He moved without wrath, pride, deceit, and greed. He remained calm, tranquil, composed, liberated, free from temptations, without egoism and without property. In short, he had cut off all earthly ties, and was not strained by any worldliness. His course was unobstructed like that of life. Like the firmament, he wanted no support. Like the wind he knew no obstacles. His heart was pure like the water in autumn. He remained unsoiled like a lotus-leaf. His senses were well protected like those of a tortoise. Like a rhinoceros, he lived single and alone. He was free like a bird, always walking like the fabulous bird Bhāruṇḍ, valorous like an elephant, strong like a bull, difficult to attack like a lion, steady and firm like the mountain Mandara, deep like ocean, mild like the moon, effulgent like the sun, pure like gold, patient like earth, and shining in splendour like a well-kindled

fire.

He lived, except in the rainy season, all the eight months of summar and winter, in villages only a single night, and in towns only five nights. He was indifferent alike to the smell of ordure and the sweet scent of sandal, to straw and jewel, dirt and gold, pleasure and pain, this world or the world beyond, to life and death, He exerted himself for the stoppage and the defilement of *karmas.*

Wandering and Meeting with Gośāla

The *Ācārāṅga* mentions that renunciation implied the quitting of the northern kṣatriya part of the place Kuṇḍagrāma, and arrival in the village Kummāra presumably a suburb of Kuṇḍagrāma. Then he moved to the settlement of Kollāga, near Vaiśālī, where he was hospitably received by the Brāhmaṇa Bahula. After roaming about in this area for six months, Mahāvīra came to Asthigrāma, to spend his first rainy season their. On way to Asthigrāma, Mahāvīra had the first taste of those bitter experiences which were going to be a common feature of his *sādhaka* life-(a) of hostility towards him of the other Parivrājaka sects roaming in those areas, and (b) of his persecution at the hands of various tempter gods.

Mahāvīra's second rainy season was spent at Nālandā, where he was met by Gośāla Maṅkhaliputta (Maskariputra), The Ājīvaka teacher. He was attracted by Mahāvīra owing to his extraordinary self-restraint and impressive habits of meditation. Possibly another factor, Mahāvīra's capacity to predict the things correctly, also helped to increase Gośāla's keenness in him. From this time onwards both travelled together for a period of over six years, and visited Campā, Bhaddilā the capital town of the Mallas, Magadha, and Lāḍha deśa. In the tenth year, on return from the Lāḍha deśa, while they were travelling from Kumāragrāma to Siddhārthagrāma, there sprang up acute differences of opinion between them. Gośāla separated himself from Mahāvīra and became known as the founder of the Ājīvaka sect.

Enlightenment

Thus as hero at the head of a battle, he bore all hardships, and remaining undisturbed with right knowledge, faith and conduct, he meditated on himself for twelve years. During the thirteenth year, in the light fortnight of the month of Vaiśākha, on its tenth day, outside the town Jṛmbhikagrāma, on the bank of the river Ṛjupalī, not far from an old shrine, in the field of the householder Śyāmaka under a Śāla tree and the asterism Uttarā-phālgunī, he attained the highest knowledge and intuition called *Kevala,* which is infinite, supreme, unobstructed, unimpeded, complete and full. He was at that time absorbed in deep meditation in a squatting position with joint heels, exposing himself to the heat of the sun, after fasting two days and a half, even without drinking water.

Thus at the age of forty-two, he became a *Jina,* an *Arhat,* a *Kevalin,* omniscient, all-seeing, and all-knowing.

Propagation of the Doctrine

The last thirty years of his life, Mahāvīra spent in the propagation of his doctrine. He travelled through many parts of India, preaching and converting people to his faith, stopping as before for the four months of the rainy season at one place.

Knowing that a big *yajña* (sacrifice) had been organised by a Brāhamaṇa Somilācārya at a place at some distance from Jṛmbhikagrāma-the place where he attained Enlightenment, Mahāvīra moved to that place and held a public audience there. He explained his doctrine of the *Jīva, Ajīva, Āsrava, Bandha, Saṁvara, Nirjarā* and *Mokṣa.* The result was that among others, eleven of the learned Brāhmaṇa teachers, who had come there with a band of disciples to participate in the sacrifice, became converts to Mahāvīra's faith. They are known as the eleven *Gaṇadharas* of the chief disciples, of whom Gautama Indrabhūti was most prominent. Under these *Gaṇadharas* were placed all the monks of

the Order. These conversions gave to Mahāvīra a respectable community of 4411 *Śramaṇas* and a large number of lay-disciples or *Śramaṇopāsakas.* The genius for organisation, which Mahāvīra possessed, is shown in nothing more clearly than in the formation of the order of the lay-disciples-both of men and women. Now, Mahāvīra's fame as an omniscient seer began to spread fast and widely.

Mahāvīra had some powerful supporters among the ruling kings and princes also, to whom was due the spread of his doctrines. King Udayana of the country of the Sindhu-Sauvīras, king Dadhivāhana of Campā and his daughter Candanā, king Satānīka of Kauśāmbī and king Caṇḍa Pradyota of Avantī are notables in the list of such rulers.

Further, the federal illumination in honour of Mahāvīra's death by eighteen Gaṇarājās of Kāśi and Kośala, nine Mallakīs, and nine Licchavīs points to the extent of his influence and to that of his religion over these republican people.

But Mahāvīra, like the Buddha, was also known for his devoted disciples, some of whom attained to *Kaivalya.* His first conserts were the eleven *Gaṇadharas*, already referred to. Gardabhāli, who made a monk of king Sañjaya of Kāmpilya, is another notable. In one of the well-known Jaina Āgamas, *Uvāsagadasāo*, the names of ten of the most important lay-followers of Mahāvīra are recorded.

Vāṇijyagrāma, Campā, Varanasi, Ālabhiā, Kāmpilyapura, Polāsapura, Rājagṛha, and Śrāvastī are mentioned as the important ones among the places visited by the venerable Ascetic. In Vāṇijyagrāma, the great laydisciples were Ānanda and his wife Bhadrā; in Varanasi, Cūlanīpriya and his wife Śyāmā, Surādeva and his wife Dhanyā ; in Ālabhiā, Cullaśataka and his wife Bahulā; in Kāmpilyapura, Kuṇḍakolita and his wife Puṣyā ; in Polāsapura, Śakaḍālaputra and his wife Agnimitrā ; in Rājagṛha, Mahāśataka and his wife Revatī ; and in Śrāvastī, Nandinīpriya and his wife

Aśvinī, Śāleyikāpitā and his wife Phālgunī. These lay-disciples are mentioned as persons of opulence and influence, and as those noted for their piety and devotion.

Personality of Mahāvīra

All these disciples and followers sincerely believed that their Master was a great *Śramaṇa,* a great *Brāhamaṇa,* a great *Tirthaṅkara,* a great *Guru,* a great Teacher, who was gifted with a supreme knowledge and visions of the *summum bonum.* To them he stood as a living example of highest human virtue and perfection. His life was to them a perennial source of light and inspiration. His suffering and forbearance kept them steady in all their trials and tribulations. And his teachings or instructions were to them not ordinary words but utterances of one who saw the light of Truth, and was able to lead others along the path of Truth. In all earnestness, they sought to obey those words both in letter and spirit. In other words, those teachings of Mahāvīra were readily accepted by them as a means of satisfying their supreme religious needs.

Wandering and Nirvāṇa

During the 30 years of his career as Teacher, Mahāvīra spent four rainy seasons in Vaiśālī and Vāṇijyagrāma, fourteen in Rājagṛha and Nālandā, and six in Mithilā, two in Bhadrikā, one in Ālabhikā, one in Pranītabhūmi, one in Śrāvastī and one in the town of Pāvā, which was last rainy season. In the fourth month of that rainy season, in the dark fortnight of Kārtika, on its fifteenth day in the last watch of the night, in the town of Pāvā, in king Hastipāla's office of the writers, the venerable Ascetic breathed his last, went off, quitted the world, cutting asunder the ties of birth, decay and death.

Legends have gathered as thickly round Mahāvīra's death as round his birth. One tells how nearly all the ruling chiefs of the country gathered to hear his discourses, and how the Saint preached to them with wonderful eloquence for six days. Then on the seventh

day, he took his seat upon a diamond throne, in the centre of magnificent hall which had been especially built for him on the borders of a lake. It was a dark night, but the hall was brilliantly illumined by the super-natural glow that issued forth from the gods who had come to listen to the illustrious Preacher. Mahāvīra preached all night. The saint knew that his end was drawing nigh, so he sat reverently with clasped hands and crossed knees (Samparyaṅka Āsana), and just as the morning dawned, he attained *Nirvāṇa.*

Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in B.C. 527 at the age of 72. The Licchavīs and the Mallas were the two whom the rise of Mahāvīra was an object of national pride, and accordingly, it is said in the *Kalpa Sūtra,* that when the great Soul departed, the 18 confederate kings of Kāśī and Kośala, the nine Mallakīs, and the nine Licchavīs instituted an illumination saying, 'Since the light of intelligence is gone, let us make an illumination of material matter', and this is thought to be the beginning of Dīwālī among the Jainas.

Contemporaneity with the Buddha

The evidence of Buddhist literature is sufficient to establish the contemporaneity of Mahāvīra and the Buddha. Although they had not personally met each other, there were occasions when they felt interested in knowing and discussing each other's views and position through intermediaries. Dīrghatapasvī and Satyaka among the *Nirgrantha* recluses, and Abhay, - the prince, Upāli - the banker, and Siṁha - the Licchavī general, among the Jaina laity loom large among those intermediaries.

Teaching and its effects

Ahiṁsā or non-violent attitude is the very first principle of higher life that Mahāvīra inculcated to his disciples and followers. The visible effects of *Ahiṁsā* were sought to be proved by practical demonstration also. As a result, in his life-time,

practically all righteous kings made it a point of duty to vouchsafe the lawful protection to all forms of life. It also had solutary effect on diet. People gave up killing and took to vegetables, which provided no less energy. The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal justice for times to come. The ancient laws were considerably modified and humanised. Compassion for the suffering fellow-beings is just the other side of *Ahiṁsā*. In this way more and more philanthropic activities, humanitarian deeds and institutions were encouraged.

The *Kriyāvāda* or doctrine of action, which Mahāvīra taught, contributed towards making people conscious of their responsibility for all their acts mental vocal and physical. The same also awakened the consciousness that salvation was not a gift of favour but an attainment within human reach through pious deeds. Thus the distant end or ultimate object of Janism as taught by Mahāvīra is *Nirvāṅa,* which consists in 'Perfect Peace'. *Nirvāṅa* is just the other name of *Mokṣa* or liberation, *Mukti* or deliverance. 'There is a safer place', Mahāvīra declared, 'in view of all, but difficult to approach, where there is no old age, nor death, no pain nor disease. This is what is called *Nirvāṇa* or freedom from pain, rather perfection. It is the safer, happy, quiet and eternal place, which the great sages reach.'

But if *Nirvāṇa* or *Mokṣa* is a real state of *sukha* or bliss, how can it be reached ? The opinion that pleasant things *Mokṣa,* a pleasant state is arrived at through comfortable life, another pleasant thing is opposed to and proved to be futile. Even the Buddhist mode of life appeared to be to comfortable to be compatible with the right path to salvation. Mahāvīra, therefore, prescribed rigorous practice for the attainment of *Mokṣa* - the highest bliss. *Saṁvara* or practice of self-restraint with regard to body, speech and mind was just the other aspect of *tapas* taught by the great Teacher. The several practices of austerities were to be resorted to as means of wearing out and ultimately destroying

the effects of *karmas* or sinful deeds committed in former existences, and also of not giving effect to new *karmas.*

Mahāvīra declared : "There are O ! Nirgranathas, some sinful deeds and acts you have committed in the past, which you must wear out now by this acute form of austerity. Now that you will be living restrained here in regard to your acts, speech and thoughts, it will work as the non-doing of *karmas* for future. Thus by the exhaustion of the force of past deeds throuh penance and the non-accumulation of new acts, (you are assured) of the stoppage of the future course of rebirth, from such stoppage, of the destruction of the effect of *karmas,* from that, of the destruction of pain, from that of the destruction of mental feelings, and from that of the complete wearing out of all kinds of pain." And there follows, as a result, the non-gliding of the self in the course of *Saṁsāra* in future.

This is what is reproduced from the Jaina *Sutras* in the *Majjhima Nikāya,* and the historical importance of this Buddhist statement of Mahāvīra's ideals is that it points to a very early formulation of the main ideas of Jainism. Its importance lies also in the fact that it sets forth the entire chain of reasoning by which the terms of the Jaina thought were interlinked the sequence ending in *Mokṣa.* It serves also to unveil the plan of thought in which the chain of reasoning was sought to be developed by arranging the terms broadly under two heads - positive and negative.

Salvation was assured to all without distinction of caste, creed or sex.

Mahāvīra lay great emphasis upon chastity - both sexual and moral. It was a virtue, he declared, alike for individuals and nations to develop.

The *Syādvāda* is a doctrine forming for basis of Jaina metaphysics and dialectics. It was formulated as a scheme of thought in which there is room for consideration of all points of view, and of all ideals. This was brought forward at a most critical

period of Indian life, when many conflicting dogmas were adumbrated without leading certitude. The *Syādvāda* stands out as an intellectual idea of that harmony among men which is based upon mutual understanding. In literature it has served as a basis of encyclopaedic knowledge in which many of his votaries have excelled.

Such was the form of Mahāvīra's declarations which aroused confidence in so many hundreds and thousands of his followers who had gathered round his personality and impelled them to follow his example in their own life. And such was the special attraction of religious life which was held out to the householders, both men and women from all families and social grades who came to form a large body of lay-disciples of the venerable Ascetic Mahāvīra.

Resume

Mahāvīra was one of the great teachers of mankind. He was indeed one of those teachers through whom the problem of the perfection of man came to recognised as the highest problem before progressive humanity. All the rule of religious life, which he had enjoined, were intended to be practical and to the attainment of perfection of self. The goal set before mankind was the blissfulness of the entire being which could not be brought by wealth, pomp and power in the world. This happy state is to be attained through patience, forbearance, self-denial, forgiveness, humanity, compassion ad consideration–in short, suffering and sacrifice, love and kindness. Mahāvīra has died, but only to live as an enternal personality.

✸

BOOK REVIEW

Philosophy and Spirituality of Śrīmad Rajcandra
by Dr. U.K. Pungaliya, Published by Prakrit Bharati Academy, Jaipur, Sanmati Teerth, Pune
Price : Rs. 180.00, Size : Demy.

Śrīmad Rajcandra, one of the greatest yogis, saints and soteriologists (मोक्षार्थी/मोक्षशास्त्री) of the last century, preached the religion of self-Purification (आत्मधर्म), putting aside sectarian beliefs and dogmas. Born of a Jaina mother and a Vaishnava father, Śrīmad imbibed the best of the two religions. Young Gandhi met a genius truth seeker in Rajcandra and learnt two great things from him truth and non-violence. Śrīmad excercised the greatest influence on the Mahatma. What impressed Gandhi most in the life of Rajcandra was the latter's attempt to reach the spiritual heights while leading the life of a house-holder.

In his short span of 34 years, Rajcandra has written on various subjects extensively and his correspondence and notes run into thousands of pages. Most of his writings are personal and hence not meant for public at large. They are utterances of a seen. Nevertheless they are important not only to understand the mind of the author but also for an aspirant of truth-realization.

Dr. U.K. Pungalia's book *Philosophy and Spirituality of Śrīmad Rajcandra* is an important work which closely analyses not, only the basic philosophy of the saint but also the spiritual attainments of the

seeker. In author's opinion the doctrine of आत्मधर्म is the essence of Rajcandra's philosophy and साधना.

The book is a revised edition of the author's Ph-D. dissertation which is presented and arranged in five chapters including introduction and conclusion.

In the introduction of the book, an attempt is made to take a stock of the earlier works of Rajchandra. The importance of the subject-matter and the title of the work is also explained. The author takes a detailed critical survey of the primary and the secondary sources from which the data are collected.

Life and works of Śrīmad have been dealt with in the second chapter. A special mention of जातिस्मरण is also made for the clear understanding of Rajcandra's mind. जातिस्मरण (recollection of one's past births) has awakened Rajcandra's memory by occurance of the death of an elderly and coming neighbour of Rajcandra when the latter was very young. This completely changed the courcs of Rajcandra's; spiritual life and view.

The third chapter is devoted to the study of Śrīmad's philosophy and his way of salvation, as expressed in his monumental work आत्मधर्म or आत्मसिद्धि. आत्मसिद्धि is a summary of Rajcandra' philosophy. It deals with 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' : enunciated by Ācārya Umāsvātī in his *Tattvārthasūtra*. The author continues its exposition in the next chapter also, entitled, 'means of self-realization.'

In the last chapter, chapter V, the author presents the summary of his observations. Here, he beautifully sums up the main tenets of Rajcandra's philosophy and suggests the further prospects in the study of the great saint.

Philosophy and Spirituality of Śrīmad Rajcandra is a comprehensive work which deals its subject with respect, and helps in the understanding of the spirit of Rajcandra's life and worldview. The value of the work is enhanced by the inclusion oif Śrīmad's आत्मसिद्धि शास्त्र in one of the appendices. All those researchers and seekers who

care to know about Rajcandra's *wellanschunang* will, I believe, greatly benefit by this work.

Surendra Verma
Formerly, Dy. Director,
Pārśvanātha Vidyāpitha, Varanasi
10, HIG. 1-Circular Road, Allahabad

हम समाज को जोड़ेंगे, हमने यह व्रत धारा है,
जैन एकता और समन्वय, यही हमारा नारा है।

"दृष्टांत उपदेश से अधिक कीमती होता है।"

जैन जगत्

डॉ०सुदर्शनलाल जैन प्रोफेसर पद पर नियुक्त

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के भूतपूर्व शोधछात्र, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री डॉ०सुदर्शन लाल जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत विभाग में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुये हैं। यह नियुक्ति सन् १९९२ से मान्य है। इस सम्मानपूर्ण पद प्राप्ति के लिए डॉ०जैन को हार्दिक बधाई।

प्रोफेसर जैन विगत १९६८ से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में अध्यापन कार्य कर रहे हैं तथा सन् १९९२ से १९९५ तक संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित कर चुके हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषाओं के विद्वान् प्रोफेसर जैन के निर्देशन में अब तक २६ शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं और १० शोधछात्र वर्तमान में शोधकार्य में संलग्न हैं।

आपने अब तक लगभग एक दर्जन पुस्तकों का लेखन, सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद किया है। 'उत्तराध्ययन का समीक्षात्मक अध्ययन' नामक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध एवं मौलिक कृति 'देव, शास्त्र और गुरु' — इन दो ग्रन्थों के विद्वत्तापूर्ण लेखन हेतु उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी (लखनऊ) द्वारा क्रमश; सन् १९७१ एवं सन् १९९५ में आपको सम्मानित किया जा चुका है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से डॉ०जैन को ढेर सारी बधाइयाँ। इस उपलब्धि पर संस्थान के भूतपूर्व शोधछात्र डॉ० कमलेश कुमार जैन, प्राध्यापक, जैन दर्शन, प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि० ने अग्रज डॉ०जैन को बधाई दी है।

प्राच्य प्राकृत एवं जैन विद्या के यशस्वी विद्वान् प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन पुरस्कृत

श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान, नई दिल्ली के सम्मान्य निदेशक प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, आरा (बिहार) को, वर्ष १९९६ का अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल जैन साहित्य सम्बन्धी विशिष्ट पुरस्कार नई दिल्ली के गुरुनानक फाउण्डेशन सभागार में दिनांक ६/४/९७ को पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज के सान्निध्य तथा साहू रमेशचन्द्र जी जैन की अध्यक्षता में दिल्ली विधान सभा के स्पीकर माननीय श्री चरतीलाल जी गोयल के करकमलों द्वारा प्रदान कर सम्मानित किया गया। इक्कीस हजार रुपयों का यह पुरस्कार, शाल, श्रीफल, मणिमाला एवं स्मृतिचिह्न के साथ सबहुमान भेंट स्वरूप प्रदान किया गया।

उक्त अवसर पर उपस्थित गणमान्य विद्वानों ने प्रो० जैन की उनकी दीर्घकालीन साहित्य सेवा, विशेष रूप से अप्रकाशित दुर्लभ पाण्डुलिपियों के सम्पादन के क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए अथक् परिश्रमपूर्ण अवदानों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह ध्यातव्य है कि डॉ० जैन को पिछली फरवरी १९९६ में भी दिगम्बर जैन महासभा (बिहार-शाखा) की ओर से सम्मेदशिखर जी में नवनिर्मित मध्यलोक संस्थान के प्रतिष्ठा-समारोह के सुअवसर पर पूज्य आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज के पावन-सान्निध्य में बिहार के राज्यपाल डॉ० किदवई के कर-कमलों द्वारा २१०००/= रुपयों का पुरस्कार-सम्मान तथा १४ फरवरी १९९७ में तिजारा (अलवर) की पुण्यतीर्थ भूमि पर पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पावन-सान्निध्य में उनके दीर्घकालीन मौलिक शोध कार्यों तथा समाज-सेवा के उपलक्ष्य में प्रतीक स्वरूप ३१०००/= रुपयों के पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

डॉ० जैन सन् १९९५ से ही दुर्लभ एवं अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के सम्पादन एवं शोध कार्य में व्यस्त रहते आए हैं।

डॉ० जैन को पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से बधाई एवं शुभकामनाएँ।

श्री रतनलाल बाफणा भगवान महावीर पुरस्कार से सम्मानित

चेन्नई, २० अप्रैल १९९७ को भगवान महावीर फाउण्डेशन मद्रास द्वारा श्री रतनलाल सी० बाफणा को एक सादे समारोह में 'भगवान् महावीर पुरस्कार' प्रदान किया गया। यह पुरस्कार श्री बाफणा को अहिंसा तत्त्व के एक महत्त्वपूर्ण अंग शाकाहार के प्रचार एवं प्रसार हेतु किए गये उनके उल्लेखनीय कार्यों के लिए दिया गया है। इस अवसर

डॉ० कर्ण सिंह जी से भ० महावीर एवार्ड स्वीकारते हुए श्री रतनलाल बाफणा

पर एवार्ड फाउण्डेशन सेलेक्शन कमेटी के चेयरमैन महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री सी० सुब्रमण्यम की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

पुरस्कार के रूप में आपको पाँच लाख रुपये की नकद राशि एवं स्मृतिचिह्न प्रदान किया गया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से श्री बाफणा को हार्दिक बधाई एवं शुभकामना।

अभिनन्दन एवं विदाई समारोह

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण में दिनांक १२/४/९७, शनिवार को अपराह्न में विद्यापीठ से अवकाश ग्रहण कर रहे प्राध्यापक प्रो०सुरेन्द्र वर्मा, डॉ०बी०एन०शर्मा, डॉ०बी०एन०सिन्हा और डॉ०कमल जैन को एक समारोह में भावभीनी विदाई दी गई। इसी अवसर पर जैन विद्या के लब्धप्रतिष्ठ वयोवृद्ध विद्वान् पं० अमृतलाल जी शास्त्री का अभिनन्दन किया गया एवं संस्था के परम शुभचिन्तक डी०रे०का० (डीजल रेल इंजन कारखाना) के अवकाश प्राप्त महाप्रबन्धक श्री आर०के०जैन को भी भावभीनी विदाई दी गई।

समारोह का प्रारम्भ डॉ०मुन्नी जैन के मंगलाचरण से हुआ। सर्वप्रथम निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन ने पं० अमृतलाल जी के व्यक्तित्व एवं जैन विद्या के क्षेत्र में उनके अवदान की चर्चा की। तत्पश्चात् समादरणीय पण्डित जी को श्री आर०के० जैन

के द्वारा विद्यापीठ की ओर से माल्यार्पण कर शाल भेंट की गई। इसी क्रम में प्रो०सुदर्शनलाल जैन, संस्कृत विभाग, का०हि०वि०वि०, डॉ० कमलेश कुमार जैन, संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि०, डॉ०फूलचन्द जी 'प्रेमी', अध्यक्ष-जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय आदि ने पंडित जी को माल्यार्पण किया। अपने संस्मरणों में उनके सरल, स्वाध्यायी जीवन की प्रशंसा करते हुए उनका अभिनन्दन किया। अपने आशीर्वचन में आदरणीय पंडित जी ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रगति पर संतोष व्यक्त करते हुए इसके भावी विकास हेतु अपनी शुभकामनाएँ दी। इस अवसर पर यह भी निश्चय किया गया कि पंडित जी के सम्मान में 'श्रमण' का एक विशेषांक निकाला जायेगा।

कार्यक्रम के द्वितीय चरण में सर्वप्रथम श्री आर०के०जैन साहब को डी०रे०का० में अपनी यशस्वी सेवाएँ देकर सेवानिवृत्त होने पर स्थानीय जैन समाज के सक्रिय श्रावक श्री महेन्द्र कुमार जी लुणावत के द्वारा माल्यार्पण कर शाल अर्पित की गयी। संस्थान के निदेशक प्रो०सागरमल जैन ने श्री आर०के० जैन के संस्थान से रहे आत्मीय सम्बन्धों एवं सहयोग की चर्चा की। डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, प्रवक्ता—जैनविद्या विभाग ने विद्यापीठ से अवकाश ग्रहण कर रहे प्राध्यापकों का परिचय दिया और विद्यापीठ तथा जैन विद्या के क्षेत्र में उनके अवदानों की चर्चा की। प्राकृत विभाग के अध्यक्ष प्रो०सुरेश चन्द्र पाण्डे एवं वरिष्ठ प्रवक्ता प्राकृत विभाग, डॉ० अशोक कुमार सिंह ने भी अवकाश ग्रहण कर रहे वरिष्ठ शिक्षकों के गुणों एवं विद्यापीठ प्रवास के समय उनके संस्मरणों को याद किया तथा माल्यार्पण कर उन्हें शाल समर्पित किया।

श्री आर०के०जैन, प्रो०सुरेन्द्र वर्मा, डॉ०बी०एन०शर्मा, डॉ०बी०एन०सिन्हा तथा डॉ०कमल जैन ने अपने उद्बोधन में विद्यापीठ परिवार के साथ अपने प्रगाढ़ आत्मीय सम्बन्धों एवं यहाँ की सुखद अनुभूतियों की भाव-विह्वल होकर चर्चा करते हुए विद्यापीठ की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए शुभकामनाएँ दीं। कार्यक्रम के अन्त में प्रीतिभोज का आयोजन किया गया।

उपनिषद् साहित्य में जैन तत्त्व संगोष्ठी

नई दिल्ली २७ अप्रैल, ऋषभदेव प्रतिष्ठान, नई दिल्ली द्वारा राष्ट्रीय संग्रहालय में एक अखिल भारतीय संगोष्ठी **"उपनिषद् साहित्य में जैन तत्त्व और सराक एवं अन्य जनजातियों में जैन धर्म"** विषयों पर आयोजित की गई। द्वि-दिवसीय इस संगोष्ठी में छः सत्रों में लगभग चौदह विद्वानों ने अपने शोध-पत्रों को प्रस्तुत किया।

संगोष्ठी का उद्घाटन पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज, मुनि श्री किशन लाल जी, मुनि श्री अमरेन्द्र जी एवं श्री मदन मुनि जी के सान्निध्य में हुआ। प्रतिष्ठान

के अध्यक्ष श्री स्वरूप चन्द्र जैन, (आगरा) ने दीप प्रज्जवलित कर कार्यक्रम का शुभारम्भ किया एवं श्रीफल भेंट कर आचार्यश्री तथा मुनिगण और अतिथि विद्वानों का स्वागत किया। श्रीमती अनिला जैन के मंगलाचरण के पश्चात् प्रतिष्ठान के महासचिव श्री हृदयराज जैन ने प्रतिष्ठान की गतिविधियों एवं भावी योजनाओं पर प्रकाश डाला।

संगोष्ठी के अन्य सत्रों में प्रमुख रूप से बृहदारण्यक, मुण्डक उपनिषद्, श्वेताश्वतर एवं तैत्तिरीयोपनिषद् आदि में जैन तत्त्व पर चर्चा हुई। तत्पश्चात सराक संस्कृति और उनका आर्थिक उत्थान, भारतीय आदिवासियों की कला, जैन कला, समाज आदि विषयों पर भी शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये। संगोष्ठी में सभाध्यक्ष के रूप में डॉ०मुनीशचन्द्र जोशी, डॉ०आचार्य प्रभाकर मिश्र और डॉ०एस०पी०नारंग और श्री शरद कुमार साधक की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

जैन तत्त्वज्ञान शिविर का आयोजन

सन्मति तीर्थ (प्राकृत जैन विद्या संशोधन संस्था) के तत्त्वावधान में पूज्य आचार्य श्री चन्दनाजी द्वारा जैन तत्त्वज्ञान शिविर का आयोजन दिनांक ५ मई से ३१ मई, १९९७ तक पुणे में किया जा रहा है। इस शिविर का उद्घाटन श्री बाला साहेब भारदे एवं श्री अण्णा साहेब हजारे के करकमलों द्वारा किया जायेगा। शिविर में जिन विषयों पर चर्चाएँ केन्द्रित होंगी वे हैं— जैन दर्शन तथा तत्त्वज्ञान, ध्यान, योगासन, बच्चों के लिए प्राकृत शिक्षण एवं प्रश्नमञ्च आदि। शिविर के समस्त कार्यक्रम फिरोदिया होस्टल, बी०एम० कामर्स कालेज रोड, पुणे में सम्पन्न होगा। इस अवसर पर स्व०श्री नवमल जी फिरोदिया की तस्वीर का अनावरण भी किया जायेगा।

अखिल भारतीय निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन

उपाध्याय श्री केवलमुनि जैनोदय ट्रस्ट, बंगलोर द्वारा उपाध्याय प्रवर पूज्य (स्व) श्री केवलमुनि जी म०सा० की पुण्यतिथि के अवसर पर एक अखिल भारतीय निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया है। प्रतियोगिता का विषय है— **'उपाध्याय श्री केवलमुनि के कृतित्व और जैन साहित्य में अवदान।'** निबन्ध प्रतियोगिता में चयनित सर्वश्रेष्ठ निबन्धों को पुरस्कृत किया जायेगा। पुरस्कार की राशि इस प्रकार है—

प्रथम पुरस्कार	—	रु०११००/=
द्वितीय पुरस्कार	—	रु० ७००/=
तृतीय पुरस्कार	—	रु० ३००/=
सान्त्वना पुरस्कार (१०)	—	रु० ५०/=

प्रतियोगिता में भाग लेने की उम्र सीमा १८ वर्ष से ४० वर्ष तक है। निबन्ध प्राप्त होने की अन्तिम तिथि १५मई, १९९७ है। कृपया निबन्ध इस पते पर भेजें—

उपाध्याय श्री केवलमुनि जैनोदय ट्रस्ट
C/o श्री सम्पतराज मर्लेचा
नं० ५, पोल्पर कोइल स्ट्रीट
अशोक नगर, बंगलोर - ५६००२५।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ प्रकाशन संस्कृत संस्थान उ०प्र० द्वारा पुरस्कृत

हमारे लिए यह अत्यन्त गर्व का विषय है कि महाकवि हाल द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित, पं०विश्वनाथ पाठक, भूतपूर्व शोधाधिकारी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा संस्कृत छाया के साथ हिन्दी भाषा में अनूदित एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित "गाथासप्तशती" को संस्कृत संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा ५०००/= रुपये के पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है।

●

शोक समाचार

मोतीलाल बनारसीदास के अधिष्ठाता श्री शान्तिलाल जैन दिवंगत

भारतीय विद्या सम्बन्धी पुस्तकों के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त, मोतीलाल बनारसीदास नामक प्रकाशन-संस्थान के अधिष्ठाता तथा श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ, हरिद्वार के संरक्षक एवं पूर्व अध्यक्ष, पद्मश्री शान्तिलाल जैन, १३ मार्च १९९७, को निधन हो गया।

श्री शान्तिलाल जी जैन समाज के एक कर्मठ नेता, कर्मयोगी, दानी, सरल, हँसमुख, आकर्षक व्यक्तित्व के स्वामी एव दृढ़ संकल्प के पुरुष थे। वे दीन-दु:खियों के सेवक तथा वीतराग परमात्मा महावीरस्वामी के सच्चे पुजारी थे। वे अनेकानेक संस्थाओं से जीवनपर्यन्त जुड़े रहे।

वल्लभ स्मारक तथा अन्य सहयोगी संस्थाओं के साथ उनका आरम्भ से ही सम्बन्ध रहा तथा उनके विकास में सदैव उनका योगदान रहा। अपने पूज्य पितृव्य श्री सुन्दरलाल जी तथा सेठ कस्तूरलाल भाई के विचारों को साकार करने के लिए हरिद्वार में उन्होंने श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ का निर्माण आरम्भ किया। इस पुण्यकार्य में उन्होंने तन-मन-धन से पूर्ण योगदान देकर सर्वप्रथम भूमि का क्रय किया तथा मन्दिर और धर्मशाला का शिलान्यास करवाया। मंदिर का निर्माण आधा हो चुका है, जिसमें छ: भगवानों की प्रतिष्ठा फरवरी १९९५ में आचार्य श्री पद्मसागरसूरि जी महाराज के कर-कमलों द्वारा की जा चुकी है। यह निर्माण-कार्य जैन शिल्पकला के अनुरूप अभी दो वर्ष और चलता रहेगा। इन सभी कार्यों के प्रेरणा-स्रोत श्री शान्तिलाल जी रहे।

जैन साहित्य के प्रकाशन में भी इनका विशेष योगदान रहा है। मुनिश्री जम्बूविजय जी के साथ इनका विशेष सम्पर्क होने के कारण जैन आगमों को अनेकानेक संशोधनों के साथ ये पुन: प्रकाशित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन धर्म की अन्य अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया ।

मोतीलाल बनारसीदास संस्थान भारतीय संस्कृति एवम् आध्यात्मिक विकास के प्रकाशक के रूप में भारत ही नहीं अपितु विश्व के कोने-कोने में प्रसिद्ध है। इस संस्थान के माध्यम से इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की। इसके २००० प्रकाशनों में उल्लेखनीय हैं : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलासफी (१५ भाग), एंशियन्ट इण्डियन ट्रेडीशन एण्ड माइथोलाजी (पुराणों का अनुवाद) (१०० भाग) और दी सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट (५० भाग)।

कुछ ही वर्ष पूर्व इन्होंने रामचरितमानस का अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण प्रकाशित कर सारे विश्व में इसका प्रचार किया।

इन्होंने विश्व के अनेक प्रकाशकोंसे सम्बन्ध स्थापित कर अपने ग्रन्थ उनके संस्थान द्वारा तथा उनके ग्रन्थ अपने संस्थान ारा प्रकाशित कर भारतीय दर्शन तथा संस्कृति को समृद्ध किया। इनके अभूतपूर्व योग्दान के कारण १९९२ में भारत सरकार ने इन्हें पद्मश्री की उपाधि प्रदान की। इसके अतिरिक्त अनेक उपाधियाँ इन्हें अलग-अलग संस्थाओं से मिल चुकी हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ श्री शान्तिवल जी को अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

कर्मयोगी श्री नवलजी फिरोदिया दिवंगत

कर्मयोगी, उदारचेता, महामनस्व स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी तथा प्रसिद्ध उद्योगपति श्री नवमलजी फिरोदिया कादेनांक २६.३.९७ को हृदयगति रुक जाने के कारण निधन हो गया।

महाराष्ट्र के श्रीगोंदा ताल्लुके में ित कोलगांव में, १९१० में आपका जन्म हुआ था। आपका पूरा नाम नवमलजी कुंदन्लजी फिरोदिया था। आप स्वभाव से अत्यन्त मृदु, स्पष्टव्क्ता तथा त्याग, निष्ठा औदया के प्रतिमूर्ति थे। श्रद्धा से आपको 'बाबा' कहा जाता था। अनेकानेक सामाजिकसांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं से जुड़े श्री फिरोदिया जी एक कर्मठ नेता तथावर स्वतन्त्रता सेनानी थे। अनेक संस्थाओं को आपका संरक्षण प्राप्त था। आप वीरान संस्थान के अध्यक्ष थे। इसके अतिरिक्त भाऊसाहब फिरोदिया वृद्धाश्रम, पांजरापेकुष्ठधाम, पुणे स्थित कामायनी, आदि अनेक संस्थाओं को आपका संरक्षण प्राप्त था

पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार श्री 'बा के निधन पर शोकाकुल है। आपकी स्मृतियाँ ही हमारी प्रेरणास्रोत हैं।

साध्वी श्री पानकुंवर जी म०सा० का देहावसान
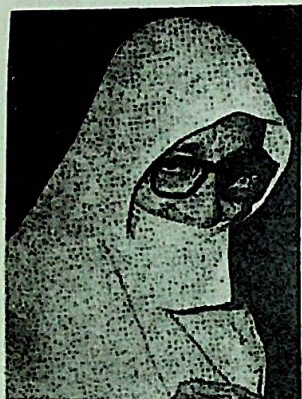
पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक डॉ०सागरमल जैन की पूज्या दादी एवं श्रमणसंघीय वयोवृद्धा साध्वी श्री पानकुंवर जी म०सा० का शाजापुर में दिनांक १४/४/९७ को संथारा पूर्वक देहावसान हो गया। आपकी उम्र ९५ वर्ष थी। संयम, त्याग, एवं तपस्या की प्रतिमूर्ति श्री पानकुंवर जी म०सा० ने लगभग ६० वर्ष तक कठोर संयम पर्याय का पालन किया तथा विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना की। जैन संघ साध्वी श्री की चिरविदाई से शोक सन्तप्त हो गया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ पूज्या साध्वी श्री के देहावसान पर अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

●

Statement About the Ownership & Other Particulars of the Journal

ŚRAMAṆA

1. Place of Publication	:	Parśvanātha Vidyāpītha I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5.
2. Periodicity of Publication	:	Quarterly.
3. Printer's Name, Nationality and Address	:	Dr. Sagarmal Jain Indian Vardhaman Mudranalaya Bhelupur, Varanasi-10.
4. Publisher's Name Nationality and Address	:	Dr. Sagarmal Jain Indian Pārśvanātha Vidyāpītha I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5.
5. Editor's Name, Nationality and Address	:	As above
6. Names and Address of Individus who own the Journal and Partns or share-holders holding more tn one percent of the total capital.	:	Pārśvanātha Vidyāpītha, Guru Bazar, Amritsar. (Registered under Act XXI as 1860.)

I, Dr. Sagarmal Jain herel declare that the particulars given above are true to the best of my iowledge and belief.

Dated 1.4.1997

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagarmal Jain